॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

श्रीपण्डित-बल्लाल-विरचितः

भोजप्रबन्धः ।

वेरीनिवासि-पंडित-बस्तीरामकृत-
भाषाटीकासमेतः ।

सोऽयं
श्रीकृष्णदासात्मजेन-गङ्गाविष्णुना
स्वकीये "लक्ष्मीवेंकटेश्वर" मुद्रणालये
मुद्रयित्वा प्रकाशितः ।

तृतीयावृत्तिः ।

शकाब्दाः १८२८, संवत् १९६३.

कल्याण-मुंबई.

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

अथ

भाषाटीकासमेतः

भोजप्रबन्धः ।

श्रीगणेशाय नमः । स्वस्ति श्रीमहाराजाधिराजस्य भोजराजस्य प्रबंधः कथ्यते । आदौ धाराराज्ये सिंधुलसंज्ञो राजा चिरं प्रजाः पर्यपालयत् । तस्य वृद्धत्वे भोज इति पुत्रः समजनि । स यदा पंचवार्षिकस्तदा पिता ह्यात्मनो जरां ज्ञात्वा मुख्यामात्यानाहूय अनुजं मुंजं महाबलमालोक्य पुत्रं च बालं वीक्ष्य विचारयामास । यद्यहं राजलक्ष्मीभारधारणसमर्थं सोदरमपहाय राज्यं पुत्राय प्रयच्छामि तदा लोकापवादः । अथवा बालं मे पुत्रं मुंजो राज्यलोभाद्विषादिना मारयिष्यति । तदा दत्तमपि राज्यं वृथा । पुत्रहानिर्वंशोच्छेदश्च ॥

गणेशं गुरुगौरीशौ नत्वा श्रीमद्गरुडध्वजम् ।
भोजप्रबन्धभाजस्य भाषाटीका विरच्यते ॥ १ ॥

स्वस्ति श्रीयुत महाराजाधिराज भोजराजका प्रबंध (इतिहास) कहा जाता है । पहिले धारा (नगरी) के राज्यमें सिंधुलसंज्ञक राजा बहुत कालतक प्रजाको पालता भया । तिसके बुढापेमें भोज ऐसा (नामवाला) पुत्र उत्पन्न

भया । वह (पुत्र) जब पांच वर्षका भया तब (उसका) पिता अपनी वृद्धावस्था जानके मुख्य मंत्रियोंको बुलवा छोटे भाई महाबली मुंजको देख और बालक पुत्रको देखके विचार करता भया । कि जो मैं राज्यकी ऐश्वर्यको धारण करनेमें समर्थ भाईको त्यागके राज्यको पुत्रके वास्ते दूंगा तो लोकापवाद (लोगोंमें निंदा) होगा । अथवा मेरे बालक पुत्रको, मुंज राज्यके लोभसे विष आदि देकर मरवा डालेगा । तब दिया हुआभी राज्य वृथा होगा और पुत्रकी हानि तथा वंशनाश होगा ॥

लोभः प्रतिष्ठा पापस्य प्रसूतिर्लोभ एव च ॥
द्वेषक्रोधादिजनको लोभः पापस्य कारणम् ॥ १ ॥

लोभ पापकी प्रतिष्ठा (मूल) है, लोभही पापकी उत्पत्ति है और द्वेष (वैर) क्रोध आदिकोंको उत्पन्न करनेवाला लोभ पापका हेतु है ॥ १ ॥

लोभात्क्रोधः प्रभवति क्रोधाद् द्रोहः प्रवर्तते ॥
द्रोहेण नरकं याति शास्त्रज्ञोऽपि विचक्षणः ॥ २ ॥

लोभसे क्रोध होता है, क्रोधसे द्रोह होता है, फिर द्रोह करनेसे शास्त्रको जाननेवाला पंडितभी नरकको जाता है॥२॥

मातरं पितरं पुत्रं भ्रातरं वा सुहृत्तमम् ॥
लोभाविष्टो नरो हंति स्वामिनं वा सहोदरम् ॥३॥

लोभसे भरा हुआ (आसक्त हुआ) नर माता, पिता, पुत्र, भाई, अत्यंत मित्र, स्वामी, सहोदर भाई इन सबोंको मार डालता है ॥ ३ ॥

इति विचार्य राज्यं मुंजाय दत्त्वा तदुत्संगे भोजमात्मजं मुमोच। ततः क्रमाद्राजनि दिवं गते संप्राप्तराज्यसंपत्तिर्मुंजो मुख्यामात्यं बुद्धिसागरनामानं व्यापारमुद्रया दूरीकृत्य तत्पदे अन्यं स्थापयामास। ततो गुरुभ्यः क्षितिपालपुत्रं वाचयति। ततः क्रमेण सभायां ज्योतिःशास्त्रपारंगतः सकलविद्याचातुर्यवान् ब्राह्मणः समागमत्। राज्ञे स्वस्तीत्युक्त्वा उपविष्टः। स चाह देव लोकोऽयं मां सर्वज्ञं वक्ति तत्किमपि पृच्छ॥

ऐसे विचारके राज्यको मुंजके वास्ते देके तिस मुंजकी गोदमें अपने पुत्र भोजको छोडता भया। फिर समय पायके वह राजा स्वर्गमें पहुँच गया (परलोकवासी हो गया)। तब राज्यकी ऐश्वर्यको अच्छी तरहसे प्राप्त हुआ मुंज बुद्धिसागर नामक मुख्य मंत्रीको व्यापारमुद्रासे अर्थात् उसके अधिकारसे उसे दूर करके उसके स्थानपर दूसरेको स्थित करता भया। फिर गुरुओंसे राजाके पुत्रके (भाग्यको) कहाता भया। फिर क्रमसे (समय पाके) ज्योतिःशास्त्रमें पारंगत हुआ, संपूर्ण विद्याचातुर्यवाला कोई ब्राह्मण आता भया। सो, राजाके अर्थ 'कल्याण हो' ऐसे कहके बैठ गया। फिर वह बोला, हे देव! यह संसार मुझको सर्वज्ञ कहता है सो कुछ पूछो॥

कंठस्था या भवेद्विद्या सा प्रकाश्या सदा बुधैः॥
या गुरौ पुस्तके विद्या तया मूढः प्रतार्यते॥ ९॥

कंठमें स्थित विद्या हो सो विद्वज्जनोंने सदा प्रकाश करनी चाहिये । जो गुरुविषे और पुस्तकविषें विद्या है उस विद्यासे मूढ जन निवारण किया जाता है (रोका जाता है) ॥ ४ ॥

इति राजानं प्राह । ततो राजापि विप्रस्याहंभावमुद्रया चमत्कृतां तद्वार्तां श्रुत्वा अस्माकं जन्मत आरभ्यैतत्क्षणपर्यंतं यद्यन्मयाचरितं यद्यत्कृतं तत्सर्वं वदसि यदि भवान्सर्वज्ञ एवेत्युवाच । ततो ब्राह्मणोऽपि राज्ञा यद्यत्कृतं तत्सर्वमुवाच गूढव्यापारमपि । ततो राजापि सर्वाण्यप्यभिज्ञानानि ज्ञात्वा तुतोष । पुनश्च पंचषट्पदानि गत्वा पादयोः पतित्वा इंद्रनीलपुष्परागमरकतवैडूर्यखचितसिंहासने उपवेश्य राजा प्राह ॥

ऐसे राजाको बोला । तब राजाभी ब्राह्मणकी अहंकारपनेकी मुद्रासे चमत्कार की हुई तिस वार्ताको सुनके ऐसे कहता भया कि हमारा जन्मसे लेके अबतक मैंने जो २ आचरण किया है जो २ काम किया है तिस संपूर्णको यदि आप कहते हैं तो सर्वज्ञही (संपूर्णवेत्ताही) हो । इससे अनंतर वह ब्राह्मणभी राजाने जो २ किया था तिस संपूर्ण गुप्त व्यवहारकोभी कहता भया । फिर राजाभी अभिज्ञानों (ब्राह्मणकी सर्वज्ञता) को जानके प्रसन्न होता भया । फिर पांच छः पद (डंग) चलके वह राजा तिसके चरणोंमें गिरके इंद्रनीलमणि पुष्पराज मरकतमणि वैडूर्यमणि इन्होंसे जडित हुए सिंहासनपर उस ब्राह्मणको बिठाकर बोला ॥

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुंक्ते ।
कांतेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम् ॥
कीर्तिं च दिक्षु विमलां वितनोति लक्ष्मीं ।
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या ॥ ५ ॥

विद्या माताकी तरह रक्षा करती है, पिताकी तरह अच्छे काममें लगाती है, स्त्रीकी तरह परिश्रम (खेद) को दूर कर रमण कराती है, दिशाओंमें कीर्तिको फैलाती है, लक्ष्मीको बढाती है ऐसी यह विद्या कल्पवृक्षकी लताकी तरह क्या २ नहीं सिद्ध करती है अर्थात् सब काम करती है ॥ ५ ॥

ततो विप्रवराय दशाश्वानाजानेयान् ददौ । ततः सभायामासीनो बुद्धिसागरः प्राह राजानम् । देव भोजस्य जन्मपत्रिकां ब्राह्मणं पृच्छेति । ततो मुंजः प्राह । भोजस्य जन्मपत्रिकां विधेहीति । ततोऽसौ ब्राह्मण उवाच । अध्ययनशालाया भोज आनेतव्य इति । मुंजोऽपि ततः कौतुकादध्ययनशालामलंकुर्वाणं भोजं भटैरानाययामास । ततः साक्षात्पितरमिव राजानमानम्य सविनयं तस्थौ । ततस्तद्रूपलावण्यमोहिते राजकुमारमंडले प्रभूतसौभाग्यं महीमंडलमागतं महेंद्रमिव साकारं मन्मथमिव मूर्तिमत् सौभाग्यमिव भोजं निरूप्य राजानं प्राह दैवज्ञः । राजन् भोजस्य भाग्योदयं वक्तुं विरिंचिरपि नालं कोऽहमुदरंभ-

रिब्राह्मणः। किंचित् तथापि वदामि स्वमत्यनुसारेण। भोजमितोऽध्ययनशालायां प्रेषय। ततो राजाज्ञया भोजे ह्यध्ययनशालां गते विप्रः प्राह॥

फिर (राजा) विप्रवरके वास्ते उत्तम जातिमें होनेवाले दश अश्वोंको देता भया। फिर सभामें बैठा हुआ बुद्धिसागर (मंत्री) राजाको बोला। हे देव! भोजकी जन्मपत्रिकाको ब्राह्मणसे पूछो। फिर मुंज बोला। भोजकी जन्मपत्रिकाको विचारो। फिर यह कहता भया। कि पाठशालासे भोज बुलवाना चाहिये। तब मुंजराजा पाठशालाको विभूषित करते हुए भोजको शूर वीर करके (शूर वीरके द्वारा) आनंदसे बुलवाता भया। फिर वह (भोज) साक्षात् पिताको करता हो तैसे प्रणाम कर विनयसे खडा हो गया। तिसके रूपकी छबिसे राजकुमारका मंडल (सभाके जन) मोहित हो गये, जैसे बहुत सौभाग्यवाले भूमंडलमें इंद्र प्राप्त हो गया हो और मूर्तिमान् कामदेव तथा मूर्तिमान् सौभाग्य स्थित हो इस प्रकार स्थित हुए, भोजको निरूपण (कायम) करके (वह) दैवज्ञ राजाको बोला। हे राजन्! भोजके भाग्योदय कहनेको ब्रह्माभी समर्थ नहीं है, पेट भरनेवाला मैं ब्राह्मण क्या कहूं। तोभी अपनी बुद्धिके अनुसार कुछ कहता हूं। भोजको यहांसे पाठशालामें भेजो। फिर राजाकी आज्ञासे भोज पाठशालामें चला गया, तब ब्राह्मण कहता भया॥

पंचाशत्पंच वर्षाणि सप्तमासदिनत्रयम्॥
भोजराजेन भोक्तव्यः सगौडो दक्षिणापथः॥ ६॥

पचपन (५५) वर्ष, सात (७) महीने तीन (३) दिन (इतने कालपर्यंत) गौड (बंगाला) देशसहित दक्षिणापथ (दक्षिणदिशाका मुलक) इस भोजराजकरके भोगा जावेगा ॥ ६ ॥

इति तत्तदाकर्ण्य राजा चातुर्यादपहसन्निव सुमुखोपि विच्छायवदनोऽभूत् । ततो राजा ब्राह्मणं प्रेषयित्वा निशीथे स्वशयनमासाद्य एकाकी सन्व्यचिंतयत् । यदि राजलक्ष्मीर्भोजकुमारं गमिष्यति तदाहं जीवन्नपि मृतः ॥

इस प्रकार तिन २ बातोंको सुनकर चतुराईसे हँसते हुएकी तरह सुंदर मुख बनाये रहाभी मुंज कांतिरहित हो गया । फिर राजा ब्राह्मणको विदा करके अर्द्धरात्रीमें अपनी शय्यामें प्राप्त होके चिंतवन करता भया । कि जो राज्यकी लक्ष्मी भोजकुमारको प्राप्त हो जावेगी तो मैं जीवता हुआही मरा हुआ हूं ॥

तानींद्रियाण्यविकलानि तदेव नाम ।
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ॥
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः क्षणेन ।
सोप्यन्य एव भवतीति विचित्रमेतत् ॥ ७ ॥

वेही स्वस्थ इंद्रिय हैं और वही नाम है, वही अखंडित बुद्धि, वही वचन रहता है परंतु द्रव्यकी गरमाई (ऐश्वर्य) से रहित हुआ वही निर्धन हुआ पुरुष क्षणमात्रमें अन्य (दूसरासा) हो जाता है यह आश्चर्य है ॥ ७ ॥

किंच-शरीरनिरपेक्षस्य दक्षस्य व्यवसायिनः ॥
बुद्धिप्रारब्धकार्यस्य नास्ति किंचन दुष्करम् ॥८

और ऐसा है-शरीरकी अपेक्षा नहीं रखनेवालेको, चतुर निश्चयमनवाले, बुद्धिसे कामको प्रारंभ करनेवालेको कुछभी दुष्कर (दुर्लभ) नहीं है ॥ ८ ॥

असूयया हृतेनैव पूर्वोपायोद्यमैरपि ॥
कर्तॄणां गृह्यते सम्यक् सुहृद्भिर्मंत्रिभिस्तथा ॥ ९ ॥

असूया करके हत होनेसे अर्थात् किसी प्रकारकी तर्क बोली लग जानेसे, (उद्यम करनेमे) और पहले किये हुए उपाय उद्यमों करके (इन हेतुओंके प्रभावसे) कर्तृ अर्थात् कार्य करनेवाले राजा आदिकोंकी सम्यक् अर्थात् सब आज्ञा आदि मित्रजनोंकरके और मंत्रीलोगोंकरके अंगीकार की जाती है ॥ ९ ॥

ततोऽद्य मे किं दुःसाध्यम् ॥

फिर उद्यमविषें मुझे क्या दुस्साध्य है ॥

अतिदाक्षिण्ययुक्तानां शंकितानां पदे पदे ॥
परापवादभीरूणां दूरतो यांति संपदः ॥ १० ॥

अत्यंत चतुराईमें युक्त हुए, पद २ पर शंका करनेवाले, पराई निंदासे डरनेवाले पुरुषोंको दूरसेही संपत्ति प्राप्त होती है ॥ १० ॥

किंच-आदानस्य प्रदानस्य कर्तव्यस्य च कर्मणः ॥
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति संपदः ॥ ११ ॥

ग्रहण करने लायक, देने लायक, करनेके योग्य, ऐसे जो काम हैं उन कामोंको शीघ्रही नहीं करे तो उनकी संपत्तिको काल नष्ट करता है अर्थात् इन कामोंको शीघ्रही कर लेवे। फिर समय पायकर होने मुसकिल हैं ॥ ११ ॥

अवमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा च पृष्ठतः ॥
स्वार्थं समुद्धरेत्प्राज्ञः स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता १२॥

अपमानको आगे कर मानको पीठ पीछे कर पंडित जन अपने मतलबको बना लेवे। कार्य बिगड जाना यही मूर्खता है ॥ १२ ॥

न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नरः ॥
एतदेवातिपांडित्यं यत्स्वल्पाद्भूरिसाधनम्॥१३ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य थोडेसे (कामके) वास्ते बहुतसे (धनादिक) को नष्ट नहीं करे। यही अत्यंत बुद्धिमत्ता है, कि जो थोडे (काम) से बहुत सिद्ध करना ॥ १३ ॥

जातमात्रं न यः शत्रुं व्याधिं वा प्रशमं नयेत्॥
अतिपुष्टांगयुक्तोऽपि स पश्चात्तेन हन्यते ॥ १४ ॥

जो जन्मतेही शत्रुको अथवा बीमारीको नहीं शांत करता है वह अत्यंत पुष्ट शरीरवाला हो तोभी पीछे तिस (शत्रु वा बीमारी) से मारा जाता है ॥ १४ ॥

प्रज्ञागुप्तशरीरस्य किं करिष्यंति संहताः ॥
हस्तन्यस्तातपत्रस्य वारिधारा इवारयः ॥ १५ ॥

बुद्धिसे शरीरकी रक्षा करनेवालोंके शत्रु क्या करेंगे।

जैसे हाथमें छत्री लिये हुओंको जलकी धारा कुछ नहीं दुःख दे सकी हैं तैसे ॥ १५ ॥

अफलानि दुरंतानि समव्ययफलानि च ॥
अशक्यानि च वस्तूनि नारभेत विचक्षणः॥१६॥

और जिनसे कुछ फल सिद्ध न हो, जो बडी मुशकिलसे पार पडें, जिनमें नफा नुकसान बराबर हो, जो बननेमें नहीं आवे ऐसे कामोंका प्रारंभ पंडित जन नहीं करे ॥ १६ ॥

ततश्चैवं विचिंतयन्नभुक्त एव दिनस्य तृतीये यामे एक एव मंत्रयित्वा वंगदेशाधीश्वरस्य महाबलस्य वत्सराजस्य आकारणाय स्वमंगरक्षकं प्राहिणोत् । स चांगरक्षको वत्सराजमुपेत्य प्राह । राजा त्वामाकारयतीति । ततः स्वरथमारुह्य परिवारेण परिवृतस्समागतो रथादवतीर्य राजानमवलोक्य प्रणिपत्योपविष्टः । राजा च सौधं निर्जनं विधाय वत्सराजं प्राह ॥

फिर ऐसे चिंतवन करके वह मुंजराजा दिनके तीसरे पहरमें अकेलाही सलाह करके वंगदेशका अधीश्वर महाबली वत्सराजको बुलानेके वास्ते अपने अंगरक्षक निजदूतको भेजता भया। उस अंगरक्षकने वत्सराजको प्राप्त होके राजा तुमको बुलाता है ऐसा कहा । फिर वह (वत्सराज) अपने रथसे सवार हो कुटुंबके जनोंसे युक्त होके आता भया, रथसे उतर राजाको देख प्रणाम करके बैठ गया। फिर राजा महलको मनुष्योंसे रहित करके (कचहरी बरखास्त करके) वत्सराजको कहता भया ॥

राजा तुष्टोपि भृत्यानां मानमात्रं प्रयच्छति ॥
ते तु संमानितास्तस्य प्राणैरप्युपकुर्वते ॥ १७ ॥

प्रसन्न हुआ राजा भृत्योंको मानमात्र (सत्कारमात्र) देता है, फिर सम्मानित किये हुए (माने हुए) वे भृत्य अपने प्राणोंसेभी तिस राजाका उपकार करते हैं ॥ १७ ॥

ततस्त्वया भोजो भुवनेश्वरीविपिने हंतव्यः प्रथमयामे निशायाः । शिरश्चांते पुरमानेतव्यमिति । स चोत्थाय नृपं नत्वाह ॥

इसलिये तैंने रात्रीके पहले प्रहरमें यह भोज भुवनेश्वरी वनमें मार देना योग्य है । शिरको जिनाने महलमें ले आना फिर वह खडा होकर राजाको प्रणाम करके बोला ॥

देवादेशाः प्रमाणम् । तथापि भवल्लालनात्किमपि वक्तुकामोस्मि । ततः सापराधमिति मे वचः क्षंतव्यम् ॥

हे देव ! मैंने आपकी आज्ञा अंगीकार की है, तोभी लडानेसे कुछ कहा चाहता हूं । इससे यह अपराधसहित है ऐसे मेरे वचनकी क्षमा करनी चाहिये ॥

भोजे द्रव्यं न सेना वा परिवारो बलान्वितः ॥
परं पोत इवास्तेऽद्य स हंतव्यः कथं प्रभो ॥ १८ ॥

भोजके पास द्रव्य नहीं है, सेना नहीं है, बलयुक्त कुटुंब नहीं है, केवल अत्यंत दीन (गरीब) सरीखा है । हे प्रभो ! सो ऐसा भोज कैसे मारने योग्य है ॥ १८ ॥

पारंपर्य इवासक्तस्त्वत्पादं उदरंभरिः ॥
तद्वधे कारणं नैव पश्यामि नृपपुंगव ॥ १९ ॥

सिर्फ पेटको भरनेवाला और मानो सदासे ऐसाही संप्रदाय हो, ऐसे परंपराकी तरह आपके चरणोंमें आसक्त है, हे नृपपुंगव ! इस वास्ते तिस भोजके मारनेमें मैं कुछ कारण नहीं देखता हूं ॥ १९ ॥

ततो राजा सर्वं प्रातः सभायां प्रवृत्तं वृत्तमकथयत् । स च श्रुत्वा हसन्नाह ॥

फिर राजा प्रातःकालमें सभामें हुआ संपूर्ण वृत्तांतको कहता भया । फिर वह सुनके हँसता हुआ बोला ॥

त्रैलोक्यनाथो रामोस्ति वसिष्ठो ब्रह्मपुत्रकः ॥
तेन राज्याभिषेके तु मुहूर्तः कथितोऽभवत् ॥२०॥

रामचंद्र त्रिलोकीके नाथ हैं, वसिष्ठ ब्रह्माके पुत्र हैं, तिनने राज्याभिषेकके वास्ते मुहूर्त कहा था ॥ २० ॥

तन्मुहूर्तेन रामोपि वनं नीतोऽवनीं विना ॥
सीतापहारोप्यभवद्विरिंचिवचनं वृथा ॥ २१ ॥
जातः कोयं नृपश्रेष्ठ किंचिज्ज्ञ उदरंभरिः ॥
यदुक्त्या मन्मथाकारं कुमारं हंतुमिच्छसि ॥ २२ ॥

तिस मुहूर्तने रामचंद्रभी विनाही पृथ्वी (का राज्य) वनमें प्राप्त कर दिये, सीताका हरणभी हुआ, ब्रह्माका वचनभी झूठा भया है, हे नृपश्रेष्ठ ! कछुक जाननेवाला पेटको भरनेवाला यह ब्राह्मण कौन है कि जिसके कहनेपर आप कामदेवसमान सुकुमार बालकको मारनेकी इच्छा करते हो ॥ २१ ॥ २२ ॥

किंच–किनु मे स्यादिदं कृत्वा किंनु मे स्यादकुर्वतः॥
इति संचिंत्य मनसा प्राज्ञः कुर्वीत वा न वा॥२३॥

औरभी है–यह करके निश्चय मेरा क्या होगा, यह नहीं करनेसे मेरा क्या होगा, ऐसे मनकरके चिंतवन करके पंडितजन करे अथवा नहींभी करे। भावार्थ यह है कि पंडितजन काम करनेके फलको विचारकेही काम करते हैं॥२३॥

उचितमनुचितं वा कुर्वता कार्यजातं।
परिणतिरवधार्या यत्नतः पंडितेन॥
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-।
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः॥२४॥

योग्य अयोग्य संपूर्ण कार्यमात्रोंको करते हुए पंडित जनने उन कामोंका परिणाम अर्थात् इनके आखीरमें क्या फल होगा, ऐसा विचार यत्नसे करना चाहिये। जो काम अत्यंत जल्दीसे किये जाते हैं, उनकी विपत्तिसे हृदयको दग्ध करनेवाला शल्यके समान दुःखदायी फल मिलता है॥२४॥

किंच–येन सहासितमशितं हसितं कथितं च रह-
सि विस्रब्धम्॥ तं प्रति कथमसतामपि निव-
र्त्तते चित्तमामरणात्॥२५॥

औरभी है कि–जिसके साथ बैठना, खाना, हँसना, बोलना, एकान्तमें विश्वास करना होता है, तिससे दुष्ट जनोंकाभी चित्त मरणपर्यंत कैसे हटता है॥२५॥

किंच–अस्मिन्हते वृद्धस्य राज्ञः सिंधुलस्य पर-

मप्रीतिपात्राणि महावीरास्तवैवानुमते स्थिताः । ते त्वन्नगरमुद्धोलकल्लोलाः पयोधरा इव प्लावयिष्यंति । चिराद्बद्धमूलेपि त्वयि प्रायः पौराः भोजं भुवो भर्तारं भावयंति ॥

औरभी है कि— इसके मार देनेसे वृद्ध सिंधुलराजाके परम प्रीतिपात्र महाशूरवीर जो कि तेरी आज्ञामें स्थित हैं, वेही तुम्हारे नगरको ऐसे नष्ट कर देंगे जैसे दीखनेमें दारुण चंचल मेघ नगरको डवोके नष्ट करते हैं. बहुत दिनसेभी तुम मजबूत जडवाले बन रहे हो (तोभी) विशेष करके पुरवासी लोग भोजके ऊपर पृथ्वीका भार मान रहे हैं ॥

किंच—सत्यपि सुकृतकर्मणि दुर्नीतिश्चेत्
श्रियं हरत्येव ॥ तैलैः सदोपयुक्तां
दीपशिखां विदलयति हि वातालिः ॥ २६ ॥

औरभी है—सुकृतकर्म होनेमेंभी जो दुर्नीति (खराब नीति) होवे तो वह लक्ष्मीकी शोभाको हरतीही है, जैसे तेलसे अच्छी तरह भरपूर हुईभी दीपककी शिखाको वायुका समूह नष्टही कर देता है ॥ २६ ॥

देव, पुत्रवधः क्वापि न हिताय इत्युक्तं वत्सराजवचनमाकर्ण्य राजा कुपितः प्राह त्वमेव राज्याधिपतिः न तु सेवकः ॥

हे देव ! पुत्रका वध कहींभी भला नहीं है, ऐसे कहे हुए वत्सराजके वचनको सुनके राजा क्रोधकरके बोला कि तूही राज्यका अधिपति है सेवक नहीं है ॥

स्वाम्युक्ते यो न यतते स भृत्यो भृत्यपाशकः ॥
तज्जीवनमपि व्यर्थमजागलकुचाविवेति ॥ २७ ॥

स्वामीके कहे हुएमें जो यत्न नहीं करता है वह भृत्य सब भृत्योंमें नीच है, उस भृत्यका जीवनाभी जैसे बकरीके गलेमें कुचा (मांसग्रंथि) लटकती है तैसे वृथाही है ॥२७॥

ततो वत्सराजः कालोचितमालोचनीयमिति मत्वा तूष्णीं बभूव । अथ लंबमाने दिवाकरे उत्तुंगसौधोत्संगादवतरंतं कुपितमिव कृतांतं वत्सराजं वीक्ष्य समेता अपि विविधेन मिषेण स्वभवनानि प्रापुर्भीताः सभासदः । ततः स्वसेवकान्स्वागारपरित्राणार्थं प्रेषयित्वा रथं भुवनेश्वरीभवनाभिमुखं विधाय भोजकुमारोपाध्यायाकारणाय प्राहिणोदेकं वत्सराजः । स चाह पंडितम् । तात त्वामाकारयति वत्सराज इति । सोपि तदाकर्ण्य वज्राहत इव भूताविष्ट इव ग्रहग्रस्त इव तेन सेवकेन करेण धृत्वानीतः पंडितः । तं च बुद्धिमान् वत्सराजः सप्रणाममित्याह । पंडित तात उपविश राजकुमारं जयंतं अध्ययनशालाया आनयेति । आयांतं जयंतं कुमारं किमप्यधीतं पृष्ट्वानैषीत् । पुनः प्राह पंडितं विप्र भोजकुमारमानयेति । ततो विदितवृत्तांतो भोजः कुपितो ज्वलन्निव शोणितेक्षणः समेत्याह । आः पाप राज्ञो मुख्यकुमारं एकाकिनं मां राजभवनात् बहिरानेतुं तव का नाम शक्ति-

रिति वामचरणपादुकामादाय भोजेन तालुदेशे हतो वत्सराजः । ततो वत्सराजः प्राह । भोज वयं राजादेशकारिण इति बालं रथे निवेश्य खड्गमपकोशं कृत्वा जगामाशु महामायाभवनम् । ततो गृहीते भोजे लोकाः कोलाहलं चक्रुः । हुंभावश्च प्रवृत्तः । किं किमिति ब्रुवाणा भटा विक्रोशंत आगत्य सहसा भोजं वधाय नीतं ज्ञात्वा हस्तिशालामुष्ट्रशालां वाजिशालां रथशालां प्रविश्य सर्वान् जघ्नुः । ततः प्रतोलीषु राजभवनप्राकारवेदिकासु बहिर्द्वारविटंकेषु पुरसमीपेषु भेरीपटहमुरजमड्डुकाडिंडिमनिनदाडंबरेणांबरं विडंबितमभूत् । केचिद्भिमलासिना केचिद्विषेण केचित्कुंतेन केचित् पाशेन केचिद्वह्निना केचित्परशुना केचिद्भल्लेन केचित्तोमरेण केचित्प्रासेन केचिदंभसा केचिद्धारायां ब्राह्मणयोषितो राजपुत्रा राजसेवका राजानः पौराश्च प्राणपरित्यागं दधुः । ततः सावित्रीसंज्ञा भोजस्य जननी विश्वजननीव स्थिता दासीमुखात् स्वपुत्रस्थितिमाकर्ण्य कराभ्यां नेत्रे पिधाय रुदती प्राह । पुत्र पितृव्येन कां दशां गमितोसि । ये मया नियमा उपवासाश्च त्वत्कृते कृताः तेऽद्य मे विफला जाताः । दशापि दिशामुखानि शून्यानि । पुत्र देवेन सर्वज्ञेन सर्वशक्तिना मृष्टाः श्रियः । पुत्र एनं दासीवर्गं सहसा विच्छिन्नशिरसं पश्येत्युक्त्वा भूमावपतत् । ततः

प्रदीप्ते वैश्वानरे समुद्धूतधूमस्तोमेनेव मलीमसे नभसि पापत्रासादिव पश्चिमपयोनिधौ मग्ने मार्तंडमंडले महामायाभवनमासाद्य प्राह भोजं वत्सराजः । कुमार भृत्यानां दैवत, ज्योतिःशास्त्रविशारदेन केनचिद्ब्राह्मणेन तव राज्यप्राप्तावुदीरितायां राज्ञा भवद्वधो व्यादिष्ट इति भोजः प्राह ॥

फिर वत्सराज समयके योग्य हो सो विचारना चाहिये ऐसा मानके चुपका हो गया । इससे अनंतर सूर्य छिपने लगा तब ऊंचे महलसे उतरते हुए वत्सराजको क्रोधित हुए धर्मराजकी बराबर देखके इकट्ठे हुएभी सब सभासद लोग अनेक मिसकरके अपने २ घरोंको जाते भये, और भयभीत होते भये । फिर वह वत्सराज अपने सेवकोंको अपने घरकी रक्षाके वास्ते भेजके रथको भुवनेश्वरी देवीके मंदिरके सन्मुख खडा करके भोजको पढानेवाले पंडितको बुलवानेके वास्ते एक दूतको भेजता भया। वह दूत पंडितको बोला । हे तात ! तुमको वत्सराज बुलाता है । वहभी तिस बातको सुनके वज्रसे हत हुएकी तरह भूत लगे हुएकी तरह ग्रहसे ग्रस्त हुएकी तरह तिस सेवक करके हाथमें पकडा हुआ पंडित आया। फिर बुद्धिमान् वत्सराज तिस पंडितको प्रणाम करके यह बोला कि, हे पंडितजी ! हे तात ! बैठो। राजाके पुत्र जयंतको अध्ययनशालासे बुलवाओ। फिर आये हुए जयंतकुमारको कुछ पठन पाठ पूछके

उलटा भेजता भया । फिर पंडितको बोला कि, हे विप्र! भोजको बुलाओ। फिर सब समाचारको जाननेवाला भोज क्रोधित हो जलते हुएकी तरह लालनेत्र किये हुए आके बोला। अहो क्रोधकी बात है, हे पापी! राजाके मुख्य कुमार अकेले मुझको राजभवनसे बाहिर ले जानेकी तेरी क्या शक्ति है, ऐसे कह बायें चरणकी पादुका (खडाऊं) को उठा तिस भोजने वत्सराजके शिरमें मारी। फिर वत्सराज बोला। हे भोज! हम राजाकी आज्ञा करनेवाले हैं ऐसा कह बालकको रथमें बैठाके खड्गको म्यानमें बंद कर शीघ्रही देवीके भवनपर पहुँचा। फिर भोज पकडा गया तब लोग कोलाहलशब्द मचाने लगे। हूं हूं क्या है ऐसा भाव प्रवृत्त भया। क्या है? क्या है? ऐसे कहके पुकारते हुए शूरवीर योधा शीघ्रही आये। भोजको मारनेके वास्ते पकडा है, ऐसा जानके हाथियोंकी शाला, ऊंटोंकी शाला, घोडोंकी शाला, इनमें प्रवेश हो सबोंको मारते भये। फिर गलियोंमें राजभवनकी खाही कोटके पास शहरके दरवाजोंके आगे पुरके समीपमें भेरी, ढोल, मृदंग, डेरू, मड्डू तंबूर इन्होंके शब्द करके आकाश गूंज उठा। फिर कितेक जन पैनी तलवारसे कितेक विषसे कितेक भालासे कितेक फांसीसे कितेक अग्निसे कितेक फरसेसे कितेक बरछीसे कितेक तोमरसे कितेक खांडेसे कितेक जलसे कितेक पृथ्वीमेंही ब्राह्मण स्त्री राजपूत राजाके सेवक राजा इत्यादिक शहरके

लोग अपने प्राणोंका घात करते भये । फिर सावित्री नाम-वाली विश्वकी माताकी तरह स्थिर हुई भोजकी माता दासी-के मुखसे अपने पुत्रकी व्यवस्थाको सुनकर नेत्र मींचके रोती हुई बोली । हे पुत्र ! तुम्हारे चाचाने तुमको किस दशाको पहुँचाये (किस हालतको पहुँचाये) जो मैंने नियम व्रत तुम्हारे वास्ते किये थे वे अब मेरे निष्फल हो गये ! दश दिशाओंके मुख शून्य हो गये हैं । हे पुत्र ! सर्वज्ञ सर्वशक्ति-मान् देवने सब ऐश्वर्य नाश कर दिया । हे पुत्र ! इस दासीस-मूहको एकवार कटे हुए शिरवालियोंको देखो ऐसे कहके पृथ्वीमें गिर पडी । फिर जलती हुई अग्नि विषे उठे हुए धूमके समूहसे जैसे अंधेरा हो ऐसे आकाश मलिन हो गया और मानो पापके त्राससे पश्चिमके समुद्रमें सूर्य डूब गया हो ऐसे दिन छिप जानेपर वत्सराज महामायाके भवनपर पहुँचके भोजको बोला । हे कुमार ! हे मृत्योंके देव ! ज्योतिःशास्त्रमें निपुण हुए किसी ब्राह्मणने तुमको राज्यप्राप्ति होना कहा, तब राजाने आपका वध करना कहा है । भोज बोला ॥

रामे प्रव्रजनं बलेर्नियमनं पांडोः सुतानां वनं ।
वृष्णीनां निधनं नलस्य नृपते राज्यात्परिभ्रंशनम् ॥
पाकागारनिषेवणं च मरणं संचिंत्य लंकेश्वरे ।
सर्वः कालवशेन नश्यति नरः को वा परित्रायते॥२८॥

रामचंद्रजीका वनवास, बलिराजाका बंधन, पांडवोंका वनवास, यादवोंकी मृत्यु, नलराजाका राज्यसे गिरना और

रसोईके स्थानकी सेवा करनी (रसोई बनानी), रावणका मरना इन्होंको देखो; सबही जन कालके वशसे नष्ट होते हैं; कौन रक्षा करता है ॥ २८ ॥

लक्ष्मीकौस्तुभपारिजातसहजस्सूनुस्सुधांभोनिधे- ।
र्देवेन प्रणयप्रसादविधिना मूर्ध्ना धृतः शंभुना ॥
अद्याप्युज्झति नैव दैवविहितं क्षैण्यं क्षपावल्लभः ।
केनान्येन विलंघ्यते विधिगतिः पाषाणरेखासखी॥२९॥

जो चंद्रमा, लक्ष्मी, कौस्तुभमणि, कल्पवृक्ष, इन्होंका सहज (सहोदर भाई) है और अमृतरूपी क्षीरसमुद्रका पुत्र है और विनतिपूर्वक प्रसन्नतासे महादेवजीने मस्तकमें धारण किया है ऐसा चंद्रमा अबभी दैवबलसे क्षीणभावको नहीं त्यागता है । हमेशा कला क्षीण होतीही रहती है इसलिये पत्थरकी रेषाकी सखी अर्थात् जैसे पत्थरपर लकचीर खोदी जाती है वह मिटती नहीं है ऐसी विधाताकी गति (होनहार, भावी) अन्य किससे उलंघी जाती है ? अर्थात् किसीसेभी नहीं हटती है ॥ २९ ॥

विकटोर्व्यामप्यटनं शैलारोहणमपांनिधेस्तरणम् ॥
निगडं गुहाप्रवेशो विधिपरिपाकः कथं नु संतार्यः ३०॥

विकट भूमीपर विचरना, पर्वतपर चढना, समुद्रका तिरना, कैद, गुहामें प्रवेश, यह सब विधाताका रचा हुआ है । इसको कैसे पार करें अर्थात् सब भोगनाही पडता है ॥ ३० ॥

अंभोधिः स्थलतां स्थलं जलधितां धूलीलवः शैलतां
मेरुर्मृत्कणतां तृणं कुलिशतां वज्रं तृणप्रायताम् ॥

वह्निः शीततलतां हिमं दहनतामायाति यस्येच्छया
लीलादुर्ललिताद्भुतव्यसनिने देवाय तस्मै नमः ॥३१॥

और जिसकी इच्छासे समुद्र स्थल (भूमि) हो जावे, स्थलभूमी जल हो जावे, धूलके किणके पर्वत हो जावें, सुमेरु पर्वत रजकिणके हो जावे, तृण वज्रसरीखे हो जावे, वज्र तृण हो जावे, अग्नि शीतल हो जावे, पाला गरम हो जावे, ऐसे लीलामात्रसे अत्यंत मनोहर अद्भुत व्यसन करनेवाले देवके अर्थ नमस्कार है ॥ ३१ ॥

ततो वटवृक्षस्य पत्रे आदाय एकं पुटीकृत्य जंघां छुरिकया छित्त्वा तत्र पुटके रक्तमारोप्य तृणेन एकस्मिन् पत्रे कंचन श्लोकं लिखित्वा वत्सं प्राह। महाभाग एतत्पत्रं नृपाय दातव्यं त्वमपि राजाज्ञां विधेहीति। ततो वत्सराजस्यानुजो भ्राता भोजस्य प्राणपरित्यागसमये दीप्यमानमुखश्रियमवलोक्य प्राह॥

फिर वडके वृक्षके दो पत्ते लेके एक पत्तेका डोना बना अपनी जांघको छुरीसे काटके तिस दोनेमें लोहूको डालके तुनकेसे एक पत्तेपर कोई श्लोक लिखके वत्सराजको बोला। हे महाभाग! यह पत्र राजाको देना, अब तुमभी राजाकी आज्ञाको करो। फिर वत्सराजका छोटा भाई प्राणोंके त्यागसमयमेंभी भोजके मुखको उज्ज्वलकांतिवाला देखके बोला॥

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेप्यनुयाति यः॥
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यच्च गच्छति॥ ३२ ॥

एक धर्मही मित्र है, जो कि मरनेके बादभी संग चलता है । अन्य संपूर्ण शरीरके साथही नष्ट हो जाता है ॥ ३२ ॥

न ततो हि सहायार्थे माता भार्या च तिष्ठति ॥
न पुत्रमित्रे न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ ३३ ॥

फिर शरीर नष्ट होनेके अनंतर माता स्त्री सहायके वास्ते नहीं ठहरती हैं । पुत्र, मित्र, भाई, बंधु कोईभी नहीं ठहरते केवल धर्म ठहरता है ॥ ३३ ॥

बलवानप्यशक्तोऽसौ धनवानपि निर्धनः ॥
श्रुतवानपि मूर्खश्च यो धर्मविमुखो जनः ॥ ३४ ॥

जो धर्मसे विमुख है ऐसा यह नर बलवान् है तोभी निर्बल है । धनवान् है तोभी निर्धन है । शास्त्रवेत्ता है तोभी मूर्ख है ३४

इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः ॥
गत्वा निरौषधस्थानं स रोगी किं करिष्यति॥३५॥

इसही लोकमें जो नरकरूपी बीमारीका इलाज नहीं करता है, वह रोगी औषधरहित (नरकादि) स्थानमें जाके क्या करेगा ॥ ३५ ॥

जरां मृत्युं भयं व्याधिं यो जानाति स पंडितः ॥
स्वस्थस्तिष्ठेन्निषीदेद्वा स्वपेद्वा केनचिद्धसेत्॥३६॥

जो वृद्धावस्था, मृत्यु, भय, रोग इन्होंको जानता है वह पंडित है । स्वस्थ हुआ ठहरे । स्वस्थ हुआ आराम करे । स्वस्थ (खुशी) होके सोवे । अथवा किसीके संग हँसे ॥ ३६ ॥

तुल्यजातिवयोरूपान् हतान् पश्यत मृत्युना ॥
न हि तत्रास्ति ते त्रासो वज्रवद्धृदयं तवेति ॥३७॥

अपनी समान जातिवाले अपने समान उमर और रूपवालेको मृत्यु करके नाश किये हुएको देखो। तहांभी आपके त्रास (खेद) नहीं होता है। तुम्हारा हृदय वज्रके समान है ॥ ३७ ॥

ततो वैराग्यमापन्नो वत्सराजः भोजं क्षमस्वेत्युक्त्वा प्रणम्य तं च रथे निवेश्य नगराद्बहिर्घने तमसि गृहमागमय्य भूमिगृहांतरे निक्षिप्य भोजं ररक्ष। स्वयमेव कृत्रिमविद्याविद्भिः सुकुंडलं स्फुरद्वक्रं निमीलितनेत्रं भोजकुमारमस्तकं कारयित्वा तच्चादाय कनिष्ठो राजभवनं गत्वा राजानं नत्वा प्राह। श्रीमता यदादिष्टं तत्साधितमिति। ततो राजा च पुत्रवधं ज्ञात्वा तमाह वत्सराज खड्गप्रहारसमये तेन पुत्रेण किमुक्तमिति। वत्सस्तत्पत्रमदात्। राजा स्वभार्याकरेण दीपमानीय तानि पत्राक्षराणि वाचयति ॥

फिर वैराग्यको प्राप्त हुआ वत्सराज भोजको प्रणाम कर क्षमा करो ऐसे कहके नगरसे बाहिर बहुत अंधेरा होनेके समय अपने घरमें आके भौंहरामें ल्हकोके भोजकी रक्षा करता भया। (फिर) आपही कृत्रिमविद्या जाननेवाले चित्रकारोंकरके सुंदर कुंडलवाला, चिमकते हुए मुखवाला, मींचे हुए नेत्रोंवाला, भोजकुमारका मस्तक बनवाके राजभवनमें जाके राजाको नमस्कार करके बोला कि, श्रीमान् अपने जो कहा था सो सिद्ध किया है। फिर राजा पुत्रकी मृत्यु जानके तिसको बोला, हे वत्सराज।

तलवार मारनेके समय तिस पुत्रने क्या कहा, तब वत्सराज पत्रको देता भया। राजा अपनी स्त्रीके हाथसे दीपक मँगवाके तिन पत्रके अक्षरोंको वांचता है ॥

मांधाता च महीपतिः कृतयुगालंकारभूतो गतः।
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यांतकः॥
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते।
नैकेनापि समं गता वसुमती नूनं त्वया यास्यति ३८॥

सत्ययुगका आभूषणरूप मांधाता राजा चला गया (नष्ट हो गया)। और जिसने समुद्रपर पूल बांधा, वह रावणको नष्ट करनेवाला (राम) कहां है। और हे भूपते! अन्यभी युधिष्ठिर आदि राजा लोग स्वर्गमें पहुचे। यह पृथ्वी एककेभी साथ नहीं गई। अब निश्चयही तुम्हारे साथ चलेगी॥ ३८॥

राजा च तदर्थं ज्ञात्वा शय्यातो भूमौ पपात। ततश्च देवीकरकमलचालितचेलांचलानिलेन ससंज्ञो भूत्वा देवि मां मा स्पृश हा हा पुत्रघातिनमिति विलपन् कुरर इव द्वारपालानानाय्य ब्राह्मणानानयतेत्याह। ततः स्वाज्ञया समागतान् ब्राह्मणान्नत्वा मया पुत्रो हतः तस्य प्रायश्चित्तं वदध्वमिति वदंतं ते समूचुः। राजन् सहसा वह्निमाविशेति। ततः समेत्य बुद्धिसागरः प्राह। यथा त्वं राजाधमस्तथैव अमात्याधमो वत्सराजः। तव किल राज्यं दत्त्वा सिंधुलनृ-

पेण तेन त्वदुत्संगे भोजः स्थापितः तच्च त्वया पितृव्येणान्यत्कृतम् ॥

राजा तिस अर्थको जानके शय्यासे पृथ्वीपर पडता भया। फिर रानीके हस्तकमलसे हिलाये हुए दुपट्टा आदि वस्त्रकी पवन करके कुछ संज्ञाको प्राप्त हो; हे देवि ! हा हा पुत्रघाती मुझको स्पर्श मत करो, ऐसे कुररी पक्षीकी तरह विलाप करता हुआ राजा द्वारपालोंको बुलवाके यह कहता भया कि ब्राह्मणोंको बुला लाओ। फिर अपनी आज्ञासे आये हुए ब्राह्मणोंको नमस्कार करके बोला कि मैंने पुत्र मार दिया तिसका प्रायश्चित्त कहो। ऐसे कहते हुए तिसको वे बोले। हे राजन् ! शीघ्रही (एकदम) अग्निमें प्रवेश होना चाहिये। फिर वहां प्राप्त होके बुद्धिसागर बोला। जैसे तुम अधम राजा हो तैसेही वत्सराज मंत्रीभी अधम (नीच) है। क्योंकि सिंधुलराजाने तुमको राज्य देके तुम्हारी गोदमें भोज बैठाय दिया था, वह तुमने चाचाने मरवा दिया ॥

कतिपयदिवसस्थायिनि मदकारिणि यौवने दुरात्मानः विदधति तथापराधं जन्म हि तेषां यथा वृथा भवति ३९

दुष्ट स्वभाववाले जन कितेक (थोडेसे) दिनोंतक ठहरनेवाले मदकारी यौवनमें ऐसा अपराध कर लेते हैं कि जिससे उनका जन्मही वृथा हो जावे ॥ ३९ ॥

संतस्तृणोत्सारणमुत्तमांगात्सुवर्णकोट्यर्पणमामनंति ॥ प्राणव्ययेनापि कृतोपकाराः खलाः परे वैरमिवोद्वहंति ॥ ४० ॥

संतजन शिरके ऊपरसे तृण (तुनके) को दूर करनेको करोडों सुवर्ण (महोर) देना मान लेते हैं। और दुष्टजन प्राणत्याग करकेभी जो उपकार करते हैं उसकोभी वैरसरीखा मानते हैं ॥ ४० ॥

उपकारश्चापकारो यस्य व्रजति विस्मृतिम् ॥
पाषाणहृदयस्यास्य जीवतीत्यभिधा मुधा ॥ ४१ ॥

किये हुए उपकार और अपकार (तिरस्कार) जिसके याद नहीं रहते हैं। पत्थरसमान हृदयवालेका तिसका 'जीवना' ऐसा नामही वृथा है ॥ ४१ ॥

यथांकुरः सुसूक्ष्मोपि प्रयत्नेनाभिरक्षितः ॥
फलप्रदो भवेत्काले तथा लोकः सुरक्षितः ॥ ४२ ॥

जैसे बहुत छोटाभी अंकुर सुंदर जतनसे रक्षित किया जावे तो समय पायके फल देनेवाला हो जाता है। ऐसेही अच्छी तरह रक्षित किया हुआ जन कभी फलदायी हो जाता है ॥ ४२ ॥

हिरण्यधान्यरत्नानि धनानि विविधानि च ॥
तथान्यदपि यत्किंचित्प्रजाभ्यः स्युर्महीभृताम् ॥४३॥

सुवर्ण, धान्य, रत्न, अनेक प्रकारके धन तथा अन्यभी कुछ संपूर्ण वस्तु राजाओंके प्रजासे होती है ॥ ४३ ॥

राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापपराः सदा ॥
राजानमनुवर्तंते यथा राजा तथा प्रजाः ॥ ४४ ॥

राजा धर्मवाला होवे तो धर्मवाली प्रजा रहती है । राजा

पापी हो तो सब प्रजा पापमें लगी रहती है। राजाकेही अनुसार रहते हैं। जैसा राजा वैसी प्रजा ॥ ४४ ॥

ततो रात्रावेव वह्निप्रवेशननिश्चिते राज्ञि सर्वे सामंताः पौराश्च मिलिताः। पुत्रं हत्वा पापभयात् भीतो नृपतिर्वह्निं प्रविशतीति किंवदंती सर्वत्राजनि। ततो बुद्धिसागरो द्वारपालमाहूय न केनापि भूपालभवनं प्रवेष्टव्यमित्युक्त्वा नृपमंतःपुरे निवेश्य सभायामेकाकी सन् उपविष्टः। ततो राजमरणवार्ता श्रुत्वा वत्सराजः सभागृहमागत्य बुद्धिसागरं नत्वा शनैः प्राह। तात मया भोजराजो रक्षित इति। बुद्धिसागरश्च कर्णे तस्य किमप्यकथयत्। तच्छ्रुत्वा वत्सराजश्च निष्क्रांतः। ततो मुहूर्तेन कोपि करकलितवंतींद्रदंतदंडो विरचितप्रत्यग्रजटाकलापः कर्पूरकरंबितभसितोद्धर्तितसकलतनुर्मूर्तिमान्मन्मथ इव स्फटिककुंडलमंडितकर्णयुगलः कौशेयकोपीनो मूर्तिमांश्चंद्रचूड इव सभां कापालिकः समागतः। तं वीक्ष्य बुद्धिसागरः प्राह। योगीन्द्र कुत आगम्यते कुत्र ते निवेशश्च। कापालिके त्वयि यच्चमत्कारकारिकलाविशेष औषधविशेषोऽप्यस्ति। योगी प्राह॥

फिर रात्रीमेंही राजाका अग्निमें प्रवेश होना निश्चय हो चुका, तब मंडलीक राजालोग शहरके आदमी ये सब मिलके (ऐसे कहते भये कि) पुत्रको मारके पापके भयसे डरता हुआ राजा अग्निमें प्रवेश करता है, ऐसा सुरवा

(वार्ता) सब जगह हो गया । फिर बुद्धिसागर मंत्री द्वारपालोंको बुलवाके यह कहता भया कि, राजाके महलमें किसीको नहीं आने देना, फिर आप राजाके जिनाने महलोंकी बैठकमें जाके अकेलाही बैठ गया । फिर राजाके मरणकी वार्त्ताको सुनके वत्सराज सभास्थानमें आके बुद्धिसागरको प्रणाम कर शनैः २ बोला । हे तात ! मैंने भोजराज बचा रखा है । तब बुद्धिसागर तिसके कानमें कुछ कहता भया । उस बातको सुनके वत्सराज चला गया । फिर एक मुहूर्त (२ घडी) में कोई हाथमें सुंदर हाथीदंतका दंड (छडी) लिये मीहडीसहित जटाको बनाये हुए, कपूरकी धूलीसहित सफेद भस्म लगाये हुए संपूर्ण शरीरकी ऐसी शोभा बनी रही मानो मूर्तिमान् कामदेव आ गया हो ऐसा, और स्फटिकमणिके कुंडलोंसे विभूषित कानोंवाला रेशमी कौपीन धारण किये हुए कपाली लिये हुए इस प्रकार आया, जैसे मूर्तिमान् महादेव सभामें आ गया हो । तिसको देखके बुद्धिसागर बोला । हे योगीन्द्र ! कहांसे आये तुम्हारा स्थान कहां है । तुम्हारी कपालीमें कुछ चमत्कारी कलाविशेष कोई औषध बूंटी है क्या ? योगी कहने लगा ॥

देशे देशे भवनं भवने भवने तथैव
भिक्षान्नम् ॥ सरसि च नाद्यं सलिलं
शिवशिव तत्त्वार्थयोगिनां पुंसाम् ॥ ४८ ॥

शिव २ ऐसा तत्व प्रयोजनवाले योगिजनोंको देश २ में

घर है । घर २ में भिक्षाका अन्न है और सरोवरमें तथा नदीमें होनेवाला जल है अर्थात् ये सब वस्तु मिल जाती हैं ॥४५॥

ग्रामे ग्रामे कुटी रम्या निर्झरे निर्झरे जलम् ॥
भिक्षायां सुलभं चान्नं विभवैः किं प्रयोजनम् ॥ ४६ ॥

ग्राम २ में रमणीक कुटी है, पर्वतके झिरने २ में जल है । भिक्षामें सुलभ अन्न है फिर विभव (ऐश्वर्य) मिलनेसे क्या प्रयोजन है ॥ ४६ ॥

देव अस्माकं नैको देशः सकलभूमंडलं भ्रमामः । गुरूपदेशे तिष्ठामः । निखिलं भुवनतलं करतलामलकवत्पश्यामः । सर्पदष्टं विषव्याकुलं रोगग्रस्तं शस्त्रभिन्नशिरस्कं कालशिथिलितं तात तत्क्षणादेव विगतसकलव्याधिसंचयं कुर्म इति । राजापि कुड्यांतर्हित एव श्रुतसकलवृत्तांतः सभामागतः कापालिकं दंडवत्प्रणम्य योगींद्र रुद्रकल्प परोपकारपरायण महापापिना मया हतस्य पुत्रस्य प्राणदानेन मां रक्षेत्याह । अथ कापालिकोपि राजन् मा भैषीः । पुत्रस्ते न मरिष्यति शिवप्रसादेन गृहमेष्यति परं स्मशानभूमौ बुद्धिसागरेण सह होमद्रव्याणि प्रेषयेत्यवोचत् । ततो राज्ञा कापालिकेन यदुक्तं तत्सर्वं तथा कुर्विति बुद्धिसागरः प्रेषितः । ततो रात्रौ गूढरूपेण भोजोऽपि तत्र नदीपुलिने नीतः । योगिना भोजो जीवित इति प्रथा च समभूत् । ततो गजेंद्रारूढो बंदिभिः स्तूय-

मानो भेरीमृदंगादिघोषैर्जगद्बधिरीकुर्वन् पौरामात्यपरिवृतो भोजराजो राजभवनमगात् । राजा च तमालिंग्य रोदिति । भोजोऽपि रुदंतं मुंजं निवार्य अस्तौषीत् । ततः संतुष्टो राजा निजसिंहासने तस्मिन्निवेशयित्वा छत्रचामराभ्यां भूषयित्वा तस्मै राज्यं ददौ । निजपुत्रेभ्यः प्रत्येकमेकैकं ग्रामं दत्त्वा परमप्रेमास्पदं जयंतं भोजनिकाशे निवेशयामास । ततः परलोकपरित्राणो मुंजोपि निजपट्टराज्ञीभिः सह तपोवनभूमिं गत्वा परं तपस्तेपे । ततो भोजभूपालश्च देवब्राह्मणप्रसादाद्राज्यं पालयामास ॥

इति भोजराजस्य राज्यप्राप्तिप्रबंधः ॥

हे देव ! हमारा एक देश नहीं है । हम संपूर्ण भूमंडलमें भ्रमते हैं । गुरुके उपदेशमें स्थित रहते हैं । संपूर्ण भूमंडलको हाथमें स्थित हुए आंवलां फलकी तरह प्रत्यक्ष देखते हैं । हे तात ! सर्पसे डसे हुएको, विषसे व्याकुल हुएको, रोगसे पीडित हुएको, शस्त्रसे कटे हुए शिरवालेको, कालसे शिथिल हुएको हम तत्काल संपूर्ण रोगसमूहोंसे रहित (आरोग्य) कर देते हैं ऐसा कहा । राजाभी भींतकी ओटमें स्थित हुआ सब वृत्तांतको सुनके सभामें आके कपालधारी योगीको प्रणाम कर, हे योगीन्द्र ! शिवसमान ! हे परोपकार करनेमें तत्पर ! महापापी मैंने पुत्र मारा है तिस पुत्रको जिवाके मेरी

रक्षा करो । इससे अनंतर वह योगी बोला । हे राजन् ! मत डरो । तुम्हारा पुत्र नहीं मरेगा, शिवजीकी कृपासे घरको आ जावेगा परंतु बुद्धिसागरकी साथ श्मशानभूमिमें होमकी सामग्री पहुँचा दो ऐसा कहा । फिर राजाने योगीसे कहा गया सब काम किया, सब काम करनेके बाद बुद्धिसागरको भेजा । फिर रात्रीमें गुप्तरूप करके भोजभी नदीके स्थलमें प्राप्त कर दिया । और योगीने भोज जिवा दिया ऐसी प्रसिद्धि होती भई । फिर हाथीपर चढा हुआ बंदीजनोंकरके स्तुत किया हुआ मृदंग आदि बाजोंके शब्दसे जगत्को बहिरा करता हुआ शहरके लोग मंत्री इन सबोंसे युक्त हुआ भोज-राज राजाके भवनमें आता भया । फिर राजा तिसको मिलके रोने लगा । भोजभी रोते हुए मुंजको बंद करके स्तुति करता भया । इससे अनंतर प्रसन्न हुआ राजा अपने सिंहासनपर तिस भोजको विठाके छत्र चँवरसे विभूषित करके तिसके वास्ते राज्य देता भया । और अपने पुत्रोंके वास्ते अलग २ एक २ ग्राम देके परमप्रेमके स्थान जयंतको भोजकी गोदमें बैठाता भया । फिर परलोकके भयसे रक्षित हुआ मुंजभी अपनी पटरानियोंसहित तपोवनभूमिको प्राप्त होके परम तप-स्या करता भया । फिर भोजराजा देवता और ब्राह्मणोंकी कृपासे राज्य करता भया ॥

इति श्रीभोजप्रबंधभाषाटीकायां भोजराजस्य राज्यप्राप्तिप्रबंधः ।

ततो मुंजे तपोवनं याते बुद्धिसागरं मुख्यामात्यं विधाय स्वराज्यं बुभुजे भोजराजभूपतिः।एवमतिक्रामति काले कदाचिद्राज्ञा क्रीडतोद्यानं गच्छता कोपि धारानगरवासी विप्रो लक्षितः । स च राजानं वीक्ष्य नेत्रे निमीलय आगच्छन् । राज्ञा पृष्टः । द्विज त्वं मां दृष्ट्वा न स्वस्तीति जल्पसि । विशेषेण लोचने निमीलयसि तत्र को हेतुरिति । विप्र आह । देव त्वं वैष्णवोसि विप्राणां नोपद्रवं करिष्यसि ततस्त्वत्तो न मे भीतिः, किं तु कस्मैचित्किमपि न प्रयच्छसि, तेन तव दाक्षिण्यमपि नास्ति । अतस्ते किमाशीर्वचसा । किं च 'प्रातरेव कृपणमुखावलोकनात् परतोपि लाभहानिः स्यात्' इति लोकोक्त्या लोचने निमीलिते ॥

फिर मुंजभी तपोवनमें चला गया तब भोज राजा मुख्य मंत्री बुद्धिसागरको रखके अपने राज्यको भोगता भया। इस प्रकार बहुत काल बीत चुका, तब क्रीडास्थानके बगीचाको जाते हुए भोजराजने कोई धारानगरनिवासी ब्राह्मण देखा। वह ब्राह्मण राजाको देख नेत्रोंको मींचके आता भया, तब राजाने पूंछा। हे ब्राह्मण ! तुम मुझको देखके 'स्वस्ति' ऐसे आशीर्वाद नहीं देते हो विशेषकरके आंख मींचते हो यहां क्या हेतु है ऐसा कहा। ब्राह्मण बोला। हे देव ! तुम वैष्णव हो ब्राह्मणोंके उपद्रव नहीं करोगे इसलिये तुमसे मुझको डर नहीं है, परंतु किसीके वास्ते कुछ-

भी नहीं देते हो इसलिये तुम्हारी उदारता (चतुराई) भी नहीं है। इसवास्ते आशीर्वाद देनेसे क्या है। औरभी है कि प्रातःकालमें कृपणका मुख देखनेसे अन्य किसीसेभी हानि होती है, ऐसी लोगोंकी कहावतसे मैंने नेत्र मींच लिये॥

अपि च-

प्रसादो निष्फलो यस्य कोपश्चापि निरर्थकः॥
न तं राजानमिच्छंति प्रजाः षंढमिव स्त्रियः॥ ४७॥

औरभी है-जिसकी प्रसन्नता निष्फल रहे और क्रोधभी निरर्थक रहे तिस राजाको प्रजा ऐसे नहीं चाहती है कि जैसे नपुंसकको स्त्री नहीं चाहती है॥ ४७॥

अप्रगल्भस्य या विद्या कृपणस्य च यद्धनम्॥
यच्च बाहुबलं भीरोर्व्यर्थमेतत्त्रयं भुवि॥ ४८॥

विना भरखमकी विद्या और कृपणका धन, डरपोक आदमीकी भुजाओंका बल ये तीन वस्तु पृथ्वीपर व्यर्थ (निष्फल) हैं॥ ४८॥

देव मत्पिता वृद्धः काशीं प्रति गच्छन् मया शिक्षा पृष्टः तात मया किं कर्त्तव्यमिति। पित्रा चेत्थमभ्यधायि॥

हे देव! मेरा वृद्ध पिता काशीको जाता था, तब मैंने उससे शिक्षा पूंछी कि हे तात! मैंने क्या करना चाहिये। तब पिताने ऐसे कहा है॥

यदि तव हृदयं विद्वन् सुनयं स्वप्नेपि मास्म सेविष्ठाः॥
सचिवजितं षंढजितं युवतिजितं चैव राजानम्॥ ४९॥

विद्वन् ! जो तुम्हारा हृदय सुंदर नीतिवाला है तो मंत्रियोंसे जीता हुआ (वशमें हुआ), नपुंसकोंसे वशमें हुआ, स्त्रियोंके वशमें हुआ ऐसे राजाको स्वप्नमेंभी नहीं सेवना ॥४९॥

पातकानां समस्तानां द्वे परे तात पातके ॥
एकं दुस्सचिवो राजा द्वितीयं च तदाश्रयः॥५०॥

सब पापोंमें दो पाप विशेष हैं एक दुष्ट मंत्रियोंवाला राजा, दूसरा तिस राजाके आश्रय रहना ॥ ५० ॥

अविवेकमतिर्नृपतिर्मंत्रिषु गुणवत्सु वक्रितग्रीवः ॥
यत्र खलाश्च प्रबलास्तत्र कथं सज्जनावसरः ॥५१॥

मूढ बुद्धिवाला राजा, गुणवान् मंत्रियोंमें टेढी ग्रीवा (टेढा मुख) रखता है । जहां दुष्ट जन प्रबल हैं वहां सज्जन पुरुषोंको अवकाश कहां है ॥ ५१ ॥

राजा संपत्तिहीनोपि सेव्यः सेव्यगुणाश्रयः ॥
भवत्याजीवनं तस्मात्फलं कालांतरादपि ॥ ५२ ॥

संपत्तिसे हीन हुआभी राजा जो सेवने योग्य गुणोंका स्थान हो वह सेवनाही चाहिये । उससे कालांतरमें समय पायके आजीविका होती है । फल लगता है ॥ ५२ ॥

अदातुर्दाक्षिण्यं नहि भवति । देव पुरा कर्णदधीचिशिबिविक्रमप्रमुखाः क्षितिपतयो यथा परलोकमलंकुर्वाणाः निजदानसमुद्भूतदिव्यनवगुणैर्निवसंति महीमंडले तथा किमपरे राजानः ॥

दान नहीं करनेवालोंकी उदारता चतुराई नहीं है । हे

देव ! पहले राजा कर्ण, दधीचि, शिबि, विक्रम आदि राजा जैसे परलोकको विभूषित करते भये और अपने दानों कर-करके उत्पन्न हुए नव गुणोंकरके निरंतर पृथ्वीपर वास करते हैं, तैसे क्या अन्य राजा हैं ? ॥

देहे पातिनि का रक्षा यशो रक्ष्यमपातवत् ॥
नरः पतति कायोपि यशःकायेन जीवति ॥५३ ॥

अवश्य पडनेवाले देहमें क्या रक्षा करे जो कभी नहीं पडनेवाला है ऐसे यशकी रक्षा करे। मनुष्यकी मृत्यु होती है, शरीर गिर जाता है तबभी यशरूपी शरीरकरके वह नर जीवता है ॥ ५३ ॥

पंडिते चैव मूर्खे च बलवत्यपि दुर्बले ॥
ईश्वरे च दरिद्रे च मृत्योस्सर्वत्र तुल्यता ॥ ५४ ॥

पंडित, मूर्ख, बलवान्, दुर्बल, ईश्वर, दरिद्री इन सबोंमें मृत्यु बराबर है ॥ ५४ ॥

निमेषमात्रमपि ते वयो गच्छन्न तिष्ठति ॥
तस्माद्देहेष्वनित्येषु कीर्तिमेकामुपार्जयेत् ॥ ५५ ॥

तुम्हारी अवस्था चली जाती है, क्षणमात्रभी नहीं ठहरती है। इसलिये अनित्य देहोंविषें एक कीर्तिको संचित करे ५५

जीवितं तदपि जीवितमध्ये ।
गण्यते सुकृतिभिः किमु पुंसाम् ॥
ज्ञानविक्रमकलाकुललज्जा- ।
त्यागभोगरहितं विफलं यत् ॥ ५६ ॥

जो ज्ञान, विक्रम, कला, कुललज्जा, दान, भोग इन्हों-करके रहित निष्फल है वह पुरुषोंका जीवनाभी क्या सुकृतिजनोंकरके जीवनमेंही गिना जाता है ? अर्थात् नहीं गिना जाता ॥ ५६ ॥

राजापि तेन वाक्येन पीयूषपूरस्नात इव परब्रह्मणि लीन इव लोचनाभ्यां हर्षाश्रूणि मुमोच । प्राह च द्विज विप्रवर शृणु ॥

राजाभी तिस वचन करके अमृतसे भरपूर हुए सरोवरमें गोता लगाये हुएकी तरह, परब्रह्ममें लीन हुएकी तरह नेत्रोंसे हर्षकी आंशू पटकता भया और बोलाभी, हे द्विज विप्रवर ! सुनो ॥

सुलभाः पुरुषा लोके सततं प्रियवादिनः ॥
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ ५७॥

निरंतर प्रिय वचन बोलनेवाले पुरुष संसारमें सुलभ (बहुत) हैं और जो प्रिय नहीं लगे ऐसे (अप्रिय) पथ्य (हितदाई) वचन कहने सुननेवाला दुर्लभ है ॥ ५७ ॥

मनीषिणः संति न ते हितैषिणो ।
हितैषिणः संति न ते मनीषिणः ॥
सुहृच्च विद्वानपि दुर्लभो नृणां ।
यथौषधं स्वादु हितं च दुर्लभम् ॥ ५८ ॥

जो बुद्धिमान् (पंडित) हैं वे हितदायी नहीं हैं और जो हितकी इच्छावाले हैं वे बुद्धिमान् (प्रिय मीठे

वचन बोलनेवाले) नहीं हैं मनुष्योंको विद्वान् मित्र मिलना दुर्लभ है । जैसे स्वादु औषध मिलना दुर्लभ है अर्थात् कडुईही होती है । तैसेही हितदायी कठोर वचनभी अच्छा है ॥ ५८ ॥

इति विप्राय लक्षं दत्त्वा किं ते नामेत्याह । विप्रः स्वनाम भूमौ लिखति गोविंद इति । राजा वाचयित्वा विप्र प्रत्यहं राजभवनमागंतव्यं न ते कश्चिन्निषेधः । विद्वांसः कवयश्च कौतुकात् सभामानेतव्याः । कोपि विद्वान् न दुःखभागस्तु एनमधिकारं पालयेत्याह । एवं गच्छत्सु कतिपयदिवसेषु राजा विद्वत्प्रियः दानवित्तेश्वर इति प्रथामगात् । ततो राजानं दिदृक्षवः कवयो नानादिग्भ्यः समागताः । एवं वित्तादिव्ययं कुर्वाणं राजानं प्रति कदाचित् मुख्यामात्येनेत्थमभ्यधायि । देव राजानः कोशबलाः एव विजयिनो नान्ये ॥

इस प्रकार कहा और तिस ब्राह्मणके अर्थ लाख रुपैये देके बोला कि तुम्हारा क्या नाम है । ब्राह्मण अपने नामको 'गोविंद' ऐसा पृथ्वीपर लिखता भया । तब राजा उस नामको वांचके बोला, हे विप्र ! नित्य प्रति तुम राजभवनमें आया करो, तुम्हारा कोई निषेध नहीं है विद्वान् कविलोग हर्षपूर्वक सभामें लाने चाहिये। कोईभी विद्वान् दुःख नहीं पावे यह अधिकार तुमको सौंपा गया है । इस प्रकार कितेक दिन बीत चुके, तब राजा विद्वानोंसे हित रखता है सब दानियोंमें

शिरोमणि है ऐसी विख्याति होती भई । तब राजाको देखनेके वास्ते अनेक दिशाओंसे कविलोग आते भये । ऐसे धनका खर्च करते हुए राजाके प्रति कभी मुख्यमंत्रीने ऐसे कहा कि ॥

स जयी वरमातंगा यस्य कस्यास्ति मेदिनी ॥
कोशो यस्य स दुर्धर्षो दुर्गं यस्य स दुर्जयः ॥५९॥

यह जयी अर्थात् विजय करनेवाला है कि जिसके बहुत उत्तम हाथियोंसे शोभित भूमि है, और जिसके पास खजाना है, वह दुर्धर्ष (किसीसे सहा नहीं जावे) है । जिसके दुर्ग (किला) है वह दुर्जय है (जीतनेमें नहीं आता है) ॥ ५९ ॥

देव लोकं पश्य ॥

हे देव ! लोकको देखो ॥

प्रायो धनवतामेव धने तृष्णा गरीयसी ॥
पश्य कोटिद्वयासक्तं लक्षाय प्रवणं धनुः ॥६०॥ इति ।

विशेषकरके धनवालोंकीही धनमें बहुत तृष्णा रहती है दो कोटिसे आसक्त हुए (भरपूर हुए) धनुषको लक्षके वास्ते (निसानके वास्ते) नम्र हुए (नवे हुए) को देखो । भाव यह है कि इस श्लोकमें दो अर्थ दिखाये हैं इसी प्रकार दो करोड रुपैयोंवालाभी लाख रुपैयोंके वास्ते उद्यम करता है । धनुषमें दो कोटि (अग्रभाग) होते हैं बीचसे धनुष नवता है यहां लक्ष नाम निसानका लेना ॥ ६० ॥

राजा च तमाह ॥

ऐसे सुन राजाभी तिसको बोला ॥

दानोपभोगवंध्या या सुहृद्भिर्या न भुज्यते ॥
पुंसां समाहिता लक्ष्मीरलक्ष्मीः क्रमशो भवेत्॥६१॥

जो दान उपभोगके वास्ते वंध्या है अर्थात् जिससे दान भोग नहीं होता और जो मित्रजनोंसे नहीं भोगी जाती है वह पुरुषोंकी संचित की हुईभी लक्ष्मी क्रमकरके अलक्ष्मी हो जाती है ॥ ६१ ॥

इत्युक्त्वा राजा तं मंत्रिणं निजपदाद्दूरीकृत्य तत्पदेऽन्यं दिदेश । आह च तम् ॥

ऐसे कहके राजा तिस मंत्रीको उसके निज अधिकारसे अलग करके तिसकी जगह दूसरेको स्थापित करता भया। और तिसको बोला ॥

लक्षं महाकवेर्देयं तदर्धं विबुधस्य च ॥
देयं ग्रामैकमर्थ्यस्य तस्याप्यर्धं तदर्थिनः ॥६२ ॥

महाकविको लाख रुपैये देना, पंडितको पचास हजार देना चाहिये और जो अर्थको समझनेवाला हो उसको एक ग्राम इनाम देना, फिर जो तिस अर्थ समझनेवालेसे कहे हुएको समझनेवाला हो उसको उससे आधा द्रव्य देना ॥ ६२ ॥

यश्च मे अमात्यादिषु वितरणनिषेधमनाः स हंतव्यः । उक्तं च ॥

जो मेरे मंत्री आदिकोंमें दान करनेमें निषेध करनेका मन रक्खे वह मारने योग्य है। कहाभी है ॥

यद्ददाति यदश्नाति तदेव धनिनां धनम् ॥
अन्ये मृतस्य क्रीडंति दारैरपि धनैरपि ॥ ६३ ॥

जो देता है जो भोगता है, वही धनवालोंका धन है। मरे हुएके धनको तथा स्त्रियोंको अन्यही भोगते हैं ॥ ६३ ॥

प्रियः प्रजानां दातैव न पुनर्द्रविणेश्वरः ॥
अगच्छन् कांक्ष्यते लोकैर्वारिदो न तु वारिधिः॥६४॥

दाता (देनेवाला) ही प्रजाका प्रिय है, धनेश्वर प्रिय नहीं है। लोगोंने मेघकीही ठहराव (स्थिति) चाहती है समुद्रकी स्थिति नहीं चाहती ॥ ६४ ॥

संग्रहैकपरः प्रायः समुद्रोपि रसातले ॥
दातारं जलदं पश्य गर्जतं भुवनोपरि ॥ ६५ ॥

विशेषकरके संग्रह करनेमें जो तत्पर है ऐसा समुद्र तो पृथ्वीपर पडा है और जल देनेवाले मेघको लोकके ऊपर गर्जते हुएको देखो ॥ ६५ ॥

एवं वितरणशालिनं भोजराजं श्रुत्वा कश्चित्कालिंगदेशात्कविरुपेत्य मासमात्रं तस्थौ । न च क्षोणींद्रदर्शनं भजति आहारार्थं पाथेयमपि नास्ति । ततः कदाचिद्राजा मृगयाभिलाषी बहिर्निर्गतः । स कविर्हृष्ट्वा राजानमाह ॥

इस प्रकार दान देनेमें समर्थ भोजराजको सुनके कोई कवि कलिंगदेशसे आके एक महीनातक ठहरता भया। परंतु राजाके दर्शन नहीं भये हैं, भोजनके वास्ते खर्चीभी नहीं है। तब कभी सिकार खेलनेके वास्ते राजा बाहिर निकला तब वह कवि राजाको देखके बोला ॥

दृष्टे श्रीभोजराजेंद्रे गलंति त्रीणि तत्क्षणात् ॥
शत्रोः शस्त्रं कवेः कष्टं नीवीबंधो मृगीदृशाम्॥६६॥

श्रीभोजराजके दर्शन होतेही तिसी क्षणमें तीन वस्तु गिर पडती हैं। शत्रुका शस्त्र, कविका कष्ट, स्त्रियोंका नाडा (खुल जाता है) ॥ ६६ ॥

राजा लक्षं ददौ। ततस्तस्मिन्मृगयारसिके राजनि कश्चन पुलिंदपुत्रो गायति। तेन गीतमाधुर्येण तुष्टो राजा तस्मै पुलिंदपुत्राय पंचलक्षं ददौ। तदा कविः तद्दानमत्युन्नतं किरातपोतं च दृष्ट्वा नरेंद्रपाणिकमलस्थपंकजमिषेण राजानं वदति ॥

राजा लाख रुपैये देता भया। तब सिकार खेलनेमें रसिक हुए तिस राजाके विषे कोई पुलिंद नीच म्लेच्छ (जाति) का पुत्र गीत गाता था। तिस गीतकी माधुर्यतासे प्रसन्न हुआ राजा तिस पुलिंद (भील) के पुत्रके वास्ते पांच लाख रुपैये देता भया। तब वह कवि तिसके दानको बहुत घना देख और उस भीलके बालकको देखके राजाके हाथमें स्थित हुए कमलके मिसकरके राजाको बोला ॥

एते गुणाः पंकज संतोपि न ते प्रकाशमायांति ॥
यल्लक्ष्मीवसतेस्तव मधुपैरुपभुज्यते कोशः ॥६७॥

हे कमल! तेरे इतने गुण प्रकाश नहीं होते हैं, जो कि, लक्ष्मीका निवास (स्थान) काभी तेरा कोश (खजाना) मधुप अर्थात् भौंहरोंकरके भोगा जाता है। भाव राजाके

पक्षमें यह है । लक्ष्मीके निवासका डेरा सत्राका शहत पीने-वाले गँवारपालीही लेते हैं ॥ ६७ ॥

भोजस्तमभिप्रायं ज्ञात्वा पुनर्लक्षमेकं ददौ । ततो राजा ब्राह्मणमाह ॥

तिस अभिप्रायको जानके फिर तिस ब्राह्मणके वास्ते एक लाख रुपैये देता भया । फिर राजा ब्राह्मणको बोला ॥

प्रभुभिः पूज्यते विप्र कलैव न कुलीनता ॥
कलावान् मान्यते मूर्ध्नि सत्सु देवेषु शंभुना ॥ ६८ ॥

हे विप्र ! (प्रभो) स्वामीजनोंकरके कलाही पूजी जाती है कुलीनता नहीं पूजी जाती है । जैसे अन्य बहुतसे देवतोंके होनेपरभी शिवजीने कलावान् चंद्रमाही मस्तकपर धारण किया है ॥ ६८ ॥

एवं वदति भोजे कुतोपि पंचषाः कवयः समागताः । तान्दृष्ट्वा राजा विलक्षण इवासीत् । अद्यैव मया एतावद्वित्तं दत्तमिति । ततः कविस्तमभिप्रायं ज्ञात्वा नृपं पद्ममिषेण पुनः प्राह ॥

ऐसे भोज कह रहा था, तब कहींसे पांच छः कवि आते भये । तिनको देखके विलक्षणकी तरह हो गया कि, अबही मैंने इतना धन दिया है (ऐसे स्वभाव बदला) । तब तिस अभिप्रायको जानके फिरभी वह कवि कमलके मिससे राजाको बोला ॥

किं कुप्यसि कस्मै वा नवसौरभसाराय
हि निजमधुने ॥ यस्य कृते शतपत्र
तेद्य प्रतिपत्रं मृग्यते भ्रमरैः ॥ ६९ ॥

हे शतपत्र अर्थात् सौ पत्रोंवाले कमल ! किसके वास्ते क्या कोप करता है । नवीन सुगंधि जिसमें सारवस्तु है ऐसे अपने मधुके वास्ते क्या कोप करते हो । जिस मधुके वास्ते अब तुम्हारा एक २ पत्र भ्रमरोंकरके ढूंढा जाता है ॥ ६९ ॥

ततः प्रभुं प्रसन्नवदनमवलोक्य प्रकाशोम प्राह ॥
इससे अनंतर राजाको प्रसन्नमुखवाले देखके फिर बोला ॥

न दातुं नोपभोक्तुं च शक्नोति कृपणः श्रियम् ॥
किं तु स्पृशति हस्तेन नपुंसक इव स्त्रियम् ॥७०॥

कृपण पुरुष लक्ष्मीको दान नहीं कर सकता, भोग नहीं कर सकता है, किंतु हाथसे स्पर्शही कर लेता है । जैसे नपुंसक पुरुष स्त्रीको हाथसे स्पर्श कर लेता है ॥ ७० ॥

याचितो यः प्रहृष्येत दत्त्वा च प्रीतिमान् भवेत्॥
तं दृष्ट्वाप्यथवा श्रुत्वा नरः स्वर्गमवाप्नुयात्॥७१॥

जो प्रार्थना किया हुआ (मांगा हुआ) प्रसन्न होवे, दान देके प्रीति करे, मनुष्य तिसके दर्शन करके अथवा सुनके स्वर्गको पहुँचता है ॥ ७१ ॥

ततस्तुष्टो राजा पुनरपि कलिंगदेशवासिकवये लक्षं ददौ । ततः पूर्वकविः पुरः स्थितान् षट् कवीन्द्रानुद्दिश्याह ।हे कवयोत्र महासरस्सेतुसुभूमौ वासी राजा यदा

भवनं गमिष्यति तदा किमपि ब्रूतेति। ये च सर्वे महाकवयोपि सर्वं राज्ञः प्रथमचेष्टितं ज्ञात्वावर्त्तत तेष्वेकः सरोमिषेण नृपं प्राह॥

तब प्रसन्न हुआ राजा फिरभी कलिंगवासी तिस कविके वास्ते लाख रुपैये देता भया। फिर पहला वही कवि आगे खडे हुए तिन छः कवीन्द्रोंको बोला। हे कवियो! यहां महासरोवरकी पुलकी भूमिपर वसनेवाला यह राजा जब घरको जावेगा तब कुछ कहना। फिर जो वे सब महाकवि राजाके संपूर्ण पूर्व किये हुएको जानके खडे हुए थे उनमेंसे एक कवि सरोवरके मिससे राजाको बोला॥

आगतानामपूर्णानां पूर्णानामप्यगच्छताम्॥
यदध्वनि न संघट्टो घटानां तत्सरोवरम्॥ ७२॥

अपूर्ण अर्थात् खाली होके आये हुए और भरपूर होके नहीं जाते हुए घटोंका संघट्ट (मिलाप) जिसके मार्गमें नहीं होता है ऐसा सरोवर है। भाव यह है। आप ऐसे सरोवररूप हो कि तुम्हारे पास आके खाली घटरूप निर्धन कभी पूर्ण धन लेकेभी नहीं जाते हैं; और खालीभी नहीं जाते हैं॥ ७२॥

इति। तस्य राजा लक्षं ददौ। ततो गोविंदपंडितस्तान् कवींद्रान्दृष्ट्वा चुकोप। तस्य कोपाभिप्रायं ज्ञात्वा द्वितीयः कविराह॥

ऐसा कहा, तिसके वास्ते राजा लाख रुपैये देता भया। फिर गोविंद कवीश्वर तिन कवियोंको देखके क्रोध करता भया। तब कोपके अभिप्रायको जानके दूसरा कवि बोला॥

कस्य तृषं न क्षिपयसि पिबति न कस्त-
व पयः प्रविश्यांतः ॥ यदि सन्मार्गसरो-
वर नक्रो न क्रोडमधिवसति ॥ ७३ ॥

हे श्रेष्ठमार्गवाले सरोवर ! जो तुम्हारी गोदमें नाकू (मगर मच्छर) नहीं रहता, तो तुम किसकी तृषाको दूर नहीं करते हो और तुम्हारे भीतर (अंतःकरणमें) प्रवेश होके जलको कौन नहीं पीवता ॥ ७३ ॥

राजा तस्मै लक्षद्वयं ददौ। तं च गोविंदपंडितं व्यापारपदाद्दूरीकृत्य त्वयापि सभायामागंतव्यं परंतु केनापि दौष्ट्यं न कर्तव्यम्। इत्युक्त्वा ततस्तेभ्यः प्रत्येकं लक्षं दत्त्वा स्वनगरमागतः। ते च यथायथं गताः। ततः कदाचिद्राजा मुख्यामात्यं प्राह॥

राजा तिस कविके वास्ते दो लाख रुपैये देता भया। और तिस गोविंद कवि शिरोमणि कविताके प्रिय पंडितको व्यापारमुद्रा (अधिकार) से दूर करके तैंनेभी सभामें आना परंतु किसीसे ईर्षा नहीं करना। ऐसे कहके फिर अलग २ तिन्होंके वास्ते एक २ प्रति लाख २ रुपैये देके अपने नगरमें आता भया। वे सब अपनी २ जगहपर गये। इससे अनंतर राजा मुख्य मंत्रीको बोला॥

विप्रोपि यो भवेन्मूर्खः स पुराद्बहिरस्तु मे॥
कुंभकारोपि यो विद्वान् स तिष्ठतु पुरे ममेति॥ ७४॥

जो ब्राह्मणभी मेरे शहरमें मूर्ख हो वह बाहिर निकल जाओ। और जो कुम्हारभी विद्वान् हो वह मेरे शहरमें ठहरो ॥ ७४ ॥

अतः कोपि न मूर्खोऽभूद्धारानगरे। ततः क्रमेण पंचशतानि विदुषां वररुचिबाणमयूररेफणहरिशंकरकलिंगकर्पूरविनायकमदनविद्याविनोदकोकिलतारेंद्रमुखाः सर्वशास्त्रविचक्षणाः सर्वज्ञाः श्रीभोजराजसभामलंचक्रुः। एवं स्थिते कदाचिद्विद्वद्वृंदवंदिते सिंहासनासीने कविशिरोमणौ कवित्वप्रिये विप्रप्रियबांधवे भोजेश्वरे द्वारपाल एत्य प्रणम्य व्यजिज्ञपत्। देव कोपि विद्वान् द्वारि तिष्ठतीति। अथ राज्ञा प्रवेशय तमिति आज्ञप्ते सोपि दक्षिणेन पाणिना समुन्नतेन विराजमानो विप्रः प्राह ॥

इसवास्ते धारानगरीमें कोईभी मूर्ख नहीं भया। फिर क्रमसे पांच सौ (५००) विद्वान् वररुचि, बाण, रेफण, हरिशंकर, कलिंग, कर्पूर, विनायक, मदन, विद्याविनोद, कोकिल, तारेन्द्र इत्यादि सर्व शास्त्रवेत्ता सर्वज्ञ कविलोग श्रीभोजराजकी सभाको विभूषित करते भये। किसी समय इस प्रकार स्थित हुए विद्वत्समूहोंकरके वंदित हुए सिंहासनपर बैठे हुए कवियोंमें शिरोमणि तथा कविताके प्रिय रसिक और विप्रप्रिय बांधवोंसे युक्त हुए भोजराजेश्वरके पास द्वारपाल आके प्रणाम करके निवेदन करता भया। हे देव! कोई विद्वान् द्वारपर खडा है। फिर राजाने कहा उसे लाओ

ऐसे आज्ञा भई तब दहिने हाथको ऊपरको उठाये हुआ विराजमान हुआ वह ब्राह्मणभी बोला ॥

राजन्नभ्युदयोऽस्तु शंकरकवे किं पत्रिकायामिदं ।
पद्यं कस्य तवैव भोजनृपते पापठ्यतां पठ्यते ॥
एतासामरविंदसुंदरदृशां द्राक् चामरांदोलना- ।
दुद्वेल्लद्भुजवल्लिकंकणझणत्कारः क्षणं वार्यताम् ७५

इस श्लोकमें राजा और शंकर कवि इन दोनोंके प्रश्नोत्तर हैं । हे राजन् ! (आपका) अभ्युदय हो (ऐश्वर्य बढो) हे शंकर कवे ! इस पत्रिकामें क्या है ? श्लोक (है) किसका हे भोजनृपते ! तुम्हाराही है । अच्छी तरह वांचो वांचते हैं । सुंदर कमलसमान नेत्रोंवाली इन स्त्रियोंके चँवर डुलानेसे घुमाती हुई भुजारूप लताओंके कंकणोंके झणत्कारशब्दको क्षणमात्र निवारण कीजिये (जरा बंद कीजिये) ॥ ७५ ॥

यथा यथा भोजयशो विवर्धते ।
सितां त्रिलोकीमिव कर्तुमुद्यतम् ॥
तथा तथा मे हृदयं विदूयते ।
प्रियालकालीधवलत्वशंकया ॥ ७६ ॥

जैसे २ भोजका श्वेत यश बढता है मानो त्रिलोकीको सफेद किया चाहता है । (ऐसा दीखता है) तैसे २ ही मेरी प्रियाकी अलकावलीकी श्वेत होनेकी शंका करके मेरे हृदयमें खेद होता है, अर्थात् आपके यशसे सभी जगत् श्वेत होनेसे मेरी स्त्रीकी अलकेंभी श्वेत होवेंगी ॥ ७६ ॥

ततो राजा शंकरकवये द्वादशलक्षं ददौ । सर्वे विद्वांसश्च विच्छायवदना बभूवुः । परं कोपि राजभयान्नावदत् । राजा च कार्यवशात् गृहं गतः । ततो विभूपालां सभां दृष्ट्वा विबुधगणस्तं निनिंद । अहो नृपतेरज्ञता किमस्य सेवया । वेदशास्त्रविचक्षणेभ्यः स्वाश्रयकविभ्यः लक्षमदात् । किमनेन वितुष्टेनापि । असौ च केवलं ग्राम्यः कविः शंकरः । किमस्य प्रागल्भ्यं इत्येवं कोलाहलरवे जाते कश्चिदभ्यगात् कनकमणिकुंडलशाली दिव्यांशुकप्रावरणो नृपकुमार इव मृगमदपंककलंकितगात्रो नवकुसुमसमभ्यर्चितशिराश्चंदनांगरागेण विलोभयन् विलास इव मूर्तिमान् कवितेव तनुमाश्रितः शृंगाररसस्य स्यंद इव सस्यंदो महेंद्र इव महीवलयं प्राप्तो विद्वान् । तं दृष्ट्वा सा विद्वत्परिषत् भयकौतुकयोः पात्रमासीत् । स च सर्वान्प्रणिपत्य प्राह । कुत्र भोजनृप इति । ते तमूचुरिदानीमेव सौधांतरगत इति । ततोसौ प्रत्येकं तेभ्यस्तांबूलं दत्त्वा गजेंद्रकुलगतः मृगेंद्र इवासीत् । ततः स महापुरुषः शंकरकविप्रदानेन कुपितान् तान् बुद्ध्वा प्राह । भवद्भिः शंकरकवये द्वादशलक्षाणि प्रदत्तानीति न मंतव्यम् । अभिप्रायस्तु राज्ञो नैव बुद्धः । यतः शंकरपूजने प्रारब्धे शंकरकविस्त्वेकेनैव लक्षेण पूजितः । किंतु तन्निष्ठान् तन्नाम्ना

विभ्राजितानेकादश रुद्रान् शंकरानपरान् मूर्तान्प्रत्यक्षान् ज्ञात्वा तेषां प्रत्येकमेकैकं लक्षं तस्मै शंकरकवय एव शंकरमूर्तये प्रदत्तमिति राज्ञोभिप्राय इति। सर्वेपि चमत्कृतास्तेन। ततः कोपि राजपुरुषः तद्विद्वत्स्वरूपं द्राग्राज्ञे निवेदयामास। राजा च स्वमभिप्रायं साक्षाद्विदितवंतं तं महेशमिव महापुरुषं मन्यमानः सभामभ्यगात्। स च स्वस्तीत्याह राजानम्। राजा च तमालिंग्य प्रणम्य निजकरकमलेन तत्करकमलमवलंब्य सौधांतरं गत्वा प्रोत्तुंगगवाक्ष उपविष्टः प्राह। विप्र भवन्नाम्ना कान्यक्षराणि सौभाग्यावलंबितानि। कस्य वा देशस्य भवद्विरहः सुजनानां बाधत इति। ततः कविर्लिखति राज्ञो हस्ते कालिदास इति। राजा वाचयित्वा पादयोः पतति। ततस्तत्रासीनयोः कालिदासभोजराजयोरासीत्संध्या। राजा सखे संध्यां वर्णयेत्यवादीत्॥

इससे अनंतर राजा तिस शंकरकविके वास्ते बारह लक्ष रुपैये देता भया। फिर संपूर्ण कवि कांतिरहित हो गये। परंतु राजाके भयसे कोईभी नहीं बोला। राजा कार्यके वशसे घरमें चला गया। फिर राजासे रहित सभाको देखके संपूर्ण पंडितसमूह तिसकी निंदा करते भये। अहो नृपतिकी मूर्खता है, इसकी सेवा करके क्या है। वेद शास्त्रके जाननेवाले अपने आश्रय रहनेवाले कवियोंके वास्ते लाखही

देता भया । इसके बहुत प्रसन्न होनेसे क्या है । यह तो केवल (फकत) ग्राम्य (गँवारी) कवि शंकर है । इसकी क्या भरतभाई है ऐसे कोलाहल शब्द हो रहा था, तबही कोई आता भया । सुवर्ण तथा मणिके कुण्डलोंवाला, दिव्यवस्त्रोंको पहिने हुआ, राजकुमारकी तरह (शोभित) कस्तूरीकी कीचसे शोभित शरीरवाला, नवीन पुष्पोंकरके पूजित शिरवाला, चंदन लेपकी गंधकरके लुभाता हुआ, कामदेवकी तुल्य मूर्तिमान्, कविताके समान शरीरको धारण किये हुए, शृंगार रसके रथकी तरह, रथसहित इंद्रकी तरह भूमंडलमें प्राप्त हुआ विद्वान् आया । तिस विद्वान्को देखके वह विद्वानोंकी सभा भय और आश्चर्यका पात्र हो गई । फिर वह कवि सबोंको प्रणाम करके बोला । भोजराजा कहां है । वे कवि तिसको कहते भये कि महलोंके भीतर गये हैं । फिर यह कवि तिन सबोंको एक २ को नागरपान देके, हस्तियोंके कुलमें प्राप्त हुए सिंहकी तरह बैठ गया । फिर वह महापुरुष शंकरकविके अर्थ दिये हुए प्रदानकरके कुपित हुए तिन्होंको जानके बोला । तुमने ऐसा नहीं मानना चाहिये कि, शंकरकविके वास्ते बारह लक्ष रुपैये दे दिये हैं । राजाका अभिप्राय नहीं जाना । क्योंकि शंकर (महादेवका) पूजन प्रारंभ करनेमें शंकरकवि तो एकही लाखसे पूज दिया । किंतु, वैसीही निष्ठावाले तिस नामसे प्रकाशित हुए अन्य ग्यारह (११) रुद्रोंको मूर्तिवाले प्रत्यक्ष ग्यारह शं-

करोंको जानके तिनको अलग २ एक २ को लाख २ रुपैये देनेके अर्थ तिस शंकरकविकेही वास्ते बारह लाख रुपैये दे दिये, ऐसा राजाका अभिप्राय है । ऐसे तिसने सब कवि आश्चर्ययुक्त कर दिये । फिर कोई राजपुरुष तिस विद्वान्के स्वरूपको राजाके वास्ते निवेदन करता भया । फिर वह राजा अपने अभिप्रायको साक्षात् जाननेवाले तिस महापुरुषको महादेवकी तरह मानता हुआ सभामें आया । (भाव यह है कि, राजाका बारह लाख रुपैये देनेका यही अभिप्राय था सो कविने कह दिया इससे बहुत आश्चर्य भया) । वह कवि राजाको ' स्वस्ति ' (कल्याण हो) ऐसे कहता भया । राजा तिसको मिलके प्रणाम कर अपने हस्तकमलसे तिसके हस्तकमलको स्पर्श करके राजभवनके भीतर प्राप्त हो ऊंचे झरोखे (बारी) में जाय बैठा पूछता भया कि, हे विप्र ! आपके नाम करके कौनसे अक्षर सौभाग्यको स्पर्श करते हैं । किस देशका तुमसे वियोग भया अर्थात् तुम कौन देशसे आये हो और वहांके सज्जनोंको तुम्हारे आनेमें बाधा होती होगी । फिर वह कवि राजाके हाथपर ' कालिदास ' ऐसे लिखता भया । फिर राजा बांचके तिसके चरणोंमें गिर पडा । फिर तहां बैठे हुए कालिदास और भोजराजाको संध्यासमय प्राप्त हो गई । राजा बोला हे मित्र ! संध्याका वर्णन करो ।

व्यसनिन इव विद्या क्षीयते पंकजश्रीः ।
गुणिन इव विदेशे दैन्यमायांति भृंगाः ॥

कुनृपतिरिव लोकं पीडयत्यंधकारो ।
धनमिव कृपणस्य व्यर्थतामेति चक्षुः ॥ ७७ ॥

जैसे व्यसनी मनुष्य अर्थात् कामादिकमें आसक्त हुए मनुष्यकी विद्या क्षीण होती है इसी प्रकार कमलकी शोभा क्षीण होती है । जैसे गुणी लोक विदेशमें दीनताको प्राप्त होते हैं, इसी प्रकार भौंहरे दीनभावको प्राप्त होते हैं । और जैसे दुष्ट राजा प्रजाको पीडा देता है इसी प्रकार अंधेरा सबको पीडा देता है । जैसे कृपणमनुष्यका धन व्यर्थ है, इसी प्रकार नेत्र व्यर्थ होते हैं (ऐसी संध्या होती है) ॥ ७७ ॥

पुनश्च राजानं स्तौति कविः ॥

फिर कवि राजाकी स्तुति करता है ॥

उपचारः कर्तव्यो यावदनुत्पन्नसौहृदाः पुरुषाः॥
उत्पन्नसौहृदानामुपचारः कैतवं भवति ॥ ७८॥

जबतक मित्रता उत्पन्न नहीं हुई तबतक कोई उपचार (आदर सत्कार) करना चाहिये । जिन्होंकी मित्रता उत्पन्न हो जावे उनको उपचार करना ठगपना है ॥ ७८ ॥

दत्ता तेन कविभ्यः पृथ्वी सकलापि कनकसंपूर्णा ॥
दिव्यां सुकाव्यरचनां क्रमं कवीनां च यो विजानाति ७९

जो राजालोग कवियोंके क्रमको और दिव्य काव्यरचनाको जानता है तिसने सुवर्णसे भरी हुई संपूर्ण पृथ्वी कवियोंके वास्ते दे दी ॥ ७९ ॥

सुकवेः शब्दसौभाग्यं सत्कविर्वेत्ति नापरः ॥
वंध्या न हि विजानाति परां दौर्हृदसंपदम् ॥८०॥

उत्तमकविके शब्दोंके सौभाग्यको श्रेष्ठ कविही जानता है । दूसरा नहीं जानता है । वंध्या स्त्री गर्भवतीकी अभिलाषाको नहीं जानती है ॥ ८० ॥

इति । ततः क्रमेण भोजकालिदासयोः प्रीतिरजायत । ततः कालिदासं वेश्यालंपटं ज्ञात्वा तस्मिन्सर्वे द्वेषं चक्रुः । न कोपि तं स्पृशति । अथ कदाचित् सभामध्ये कालिदासमालोक्य भोजेन मनसा चिंतितं, कथमस्य प्राज्ञस्यापि स्मरपीडाप्रमाद इति । सोपि तदभिप्रायं ज्ञात्वा प्राह ॥

ऐसे कहा । फिर क्रमसे भोज और कालिदासकी प्रीति होती भई । पीछे कालिदासको वेश्यामें आसक्त जानके तिस विषें संपूर्ण विद्वान् द्वेष करते भये । कोईभी तिसको स्पर्श नहीं करता है । इससे अनंतर कभी सभाके मध्यमें कालिदास देखा तब भोजने मनसे चिंतवन किया कि, इस पंडितकोभी कामदेवकी पीडाका प्रमाद कैसे है । सो कविभी तिसके अभिप्रायको जानके बोला ॥

चेतोभुवश्चापलताप्रसंगे ।
का वा कथा मानुषलोकभाजाम् ॥
यद्दाहशीलस्य पुरां विजेतु- ।
स्तथाविधं पौरुषमर्धमासीत् ॥ ८१ ॥

कामदेवकी चपलताके प्रसंगमें मनुष्यलोकवासी जनोंकी क्या बात है। क्योंकि जो त्रिपुरासुरको जीतनेवाले महादेवके (शरीरमें) भी वही कामदेव दीखता है इसीसे आधा पुरुष हो गया है, कामदेवकी बाधासे शिव अर्धांग स्त्रीका रूप है ८१

ततस्तुष्टो भोजराजः प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ। ततः कालिदासः भोजं स्तौति ॥

तब प्रसन्न हुआ भोजराजा एक २ अक्षरके लाख २ रुपैये देता भया। फिर कालिदास भोजकी स्तुति करने लगा॥

महाराज श्रीमन् जगति यशसा ते धवलिते।
पयःपारावारं परमपुरुषोयं मृगयते ॥
कपर्दी कैलासं करिवरमभौमं कुलिशभृत्।
कलानाथं राहुः कमलभवनो हंसमधुना ८२॥

हे महाराज श्रीमन्! तुम्हारे यशसे जगत् सफेद होनेपर यह परमपुरुष विष्णु क्षीरसागरको ढूंढ रहा है। महादेव कैलासको ढूंढ रहा है। इंद्र ऐरावतहाथीको ढूंढ रहा है राहु चंद्रमाको ढूंढ रहा है। अब ब्रह्माजी हंसको ढूंढ रहा है अर्थात् आपके यशसे सब वस्तु सफेद दीखती है ॥८२॥

नीरक्षीरे गृहीत्वा निखिलखगततीर्याति नालीकजन्मा
तक्रं धृत्वा तु सर्वानटति जलनिधींश्चक्रपाणिर्मुकुंदः ॥
सर्वानुत्तुंगशैलान् दहति पशुपतिः फालनेत्रेण पश्यन्
व्याप्ता त्वत्कीर्तिकांतात्रिजगति नृपते भोजराज क्षितींद्र

हे भोजराज क्षितीन्द्र नृपति! तुम्हारी कीर्तिरूप कांता

(स्त्री) त्रिलोकीमें व्याप्त हो रही है (और पूर्वोक्त यशसे सब वस्तु श्वेत है इस वास्ते) ब्रह्मा तो जल और दूधको लेके संपूर्ण पक्षिगणोंके पास जाता है (हंसकी परीक्षा करता है ।) विष्णुभगवान् छाछ (तक्र) लेके सब समुद्रोंके पास फिरता है (दूधकी परीक्षा करता है) और अपने तृतीय अग्निस्वरूप नेत्रोंसे देखता हुआ शिवजी संपूर्ण ऊंचे २ पर्वतोंको दग्ध करता है अर्थात् चांदीके पर्वत (कैलास) की परीक्षा करता है ॥ ८३ ॥

विद्वद्राजशिखामणे तुलयितुं धाता त्वदीयं यशः ।
कैलासं च निरीक्ष्य तत्र लघुतां निक्षिप्तवान् पूर्तये ॥
उक्षाणं तदुपर्युमासहचरं तन्मूर्ध्नि गंगाजलं ।
तस्याग्रे फणिपुंगवं तदुपरि स्फारं सुधादीधितिम्॥८४

हे विद्वन् ! राजाओंके शिरोमणि भोजराज! आपके यशको तोलनेके वास्ते ब्रह्माजी कैलासको देख पीछे वहांभी हलकापन देखके पूर्ति (पूरा करने) के वास्ते उस पर्वतमें नादिया बैलको प्राप्त करता भया तिसके ऊपर पार्वतीसहित महादेव बैठाये तिसके मस्तकपर गंगाजल तिसके आगे शेषनाग है और तिसके ऊपर बहुतसी अमृतकी किरणोंवाला चंद्रमा है (ये सब वस्तु बढाई है) ॥ ८४ ॥

स्वर्गाद्गोपाल कुत्र व्रजसि सुरमुने भूतले कामधेनो- ।
र्वत्सस्यानेतुकामस्तृणचयमधुना मुग्ध दुग्धं न तस्याः
श्रुत्वा श्रीभोजराजप्रचुरवितरणं व्रीडशुष्कस्तनी सा ।

व्यर्थो हिस्यात्प्रयास्तसदपितदरिभिश्चर्वितंसर्वमुर्व्याम्

औरभी संवाद है, हे गोपाल! तू स्वर्गसे कहां जाता है? हे सुरमुने! अब कामधेनुके बछडेके वास्ते घास लानेको भरतीपर जाता हूं। हे मुग्ध (भोले)! क्यों तिसके दूध नहीं है? (हां इसी तरह है कि) वह तो श्रीभोजराजके बहुत दानको सुनकर लाजके मारे शुष्कस्तनी हो गई है! ठीक है, परन्तु यहभी तेरा यत्न (घास लानेका) वृथाही होगा, क्योंकि, सब धरतीके ऊपरका घासभी उस (भोजराज) के वैरियोंने चाब डाला है। ८५॥

तुष्टो राजा प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ। ततः कदाचित् श्रुतिस्मृतिसारं गताः केचिद्राजानं कवित्वप्रियं ज्ञात्वा क्वचिन्नगराद्बहिः भुवनेश्वरीप्रसादेन कवित्वं करिष्याम इत्युपविष्टाः। तेष्वनेन पंडितंमन्येन एकश्चरणोपाठि। भोजनं देहि राजेंद्रेति। अन्येनापाठि। घृतसूपसमन्वितमिति। उत्तरार्द्धं न स्फुरति। ततो देवताभवनं कालिदासः प्रणामार्थमगात्। तं वीक्ष्य द्विजा ऊचुः। अस्माकं समग्रवेदविदामपि भोजः किमपि नार्पयति। भवादृशां हि यथेष्टं दत्ते। ततोस्माभिः कवित्वविधानधियात्रागतम्। चिरं विचार्य पूर्वार्धमभ्यधायि उत्तरार्धं कृत्वा देहि। ततोस्मभ्यं किमपि प्रयच्छतीत्युक्त्वा तत्पुरस्तदर्धमभाणि। स च तच्छ्रुत्वा, माहिषं च शरच्चंद्रचंद्रिकाधवलं दधीत्याह। तं च राज-

१ तृणमपि भोजराजपराक्रान्तैः शत्रुभिर्वनवासिभिर्भक्षितम्।

भवनं गत्वा दौवारिकानूचुः वयं कवनं कृत्वा समागता राजानं दर्शयतेति। ते च कौतुकात् हसंतो गत्वा राजानं प्रणम्य प्राहुः॥

फिर प्रसन्न हुआ राजा एक २ अक्षरको लाख २ रुपैये देता भया। इससे अनंतर किसी समयमें श्रुतिस्मृतिके जाननेवाले कितेक कविजन राजाको कवित्वप्रिय (कविताका सौक) जानके नगरसे बाहिर भुवनेश्वरी देवीकी प्रसन्नतासे कविता करेंगे ऐसे बैठते भये। तिन्होंमें इस एक आपको पंडित माननेवालेने एक चरण (श्लोकका एक पद) पढा। 'भोजनं देहि राजेन्द्र' अर्थात् हे राजेन्द्र (हमको) भोजन दो, ऐसा कहा। दूसरेने पढा, घृत और दालसे युक्त हो। ऐसे दो पद हो गये उत्तरार्द्ध नहीं बन सका। फिर कालिदासजी प्रणाम करनेके वास्ते देवताके भवनमें जाते भये। तिसको देखके ब्राह्मण कहते भये। हमको संपूर्ण वेदोंको जाननेवालोंकोभी भोजराजा कुछभी नहीं देता है। और तुम्हारे सरीखोंको (यथेष्ट) जो चाहिये सो देता है। इसलिये कविता रचनेकी बुद्धि करके हमने यहां आना किया। बहुत दिनतक विचार करके श्लोकका पूर्वार्द्ध तो बनाया अब उत्तरार्द्ध बनाके दो। तब हमारे वास्ते (राजा) कुछ देवेगा ऐसे कहके उनने वह आधा श्लोक तिसके आगे पढा। वह कालिदास तिस आधे श्लोकको सुनके (माहिषमिति) शरदृतुके चंद्रमाकी समान सफेद, भैंसका दहीभी (उस

भोजनमें) दो, ऐसा कहता भया । इससे अनंतर वे कवि दरवाजेपर बैठे हुए द्वारपालोंको कहते भये कि हम कविता करके आये हैं राजाको दिखावो । वे (द्वारपाल) आनंदसे हँसते हुए राजाके पास जाके प्रणाम करके बोले ॥

राजमाषनिभैर्दंतैः कटिविन्यस्तपाणयः ॥
द्वारि तिष्ठंति राजेंद्र च्छांदसाः श्लोकशत्रवः ॥ ८६ ॥

हे राजेंद्र ! उडदोंसरीखी कांतिवाले खराब दांतोंके चिन्होंकरके उपलक्षित, कटिपर हाथ धरे हुए, ऐसे छांदस अर्थात् वेदपाठी श्लोकके शत्रु पंडित आये हैं ॥ ८६ ॥

इति राज्ञा प्रवेशितास्ते दृष्टराजसंसदो मिलिताः सहैव कवित्वं पठंति स्म राजा तच्छ्रुत्वा उत्तरार्धं कालिदासेन कृतमिति ज्ञात्वा विप्रानाह । येन पूर्वार्धं कारितं तन्मुखात्कवित्वं कदाचिदपि न करणीयम् । उत्तरार्द्धस्य किंचिद्दीयते न पूर्वार्धस्येत्युक्त्वा प्रत्यक्षरलक्षं ददौ । तेषु कालिदासं वीक्ष्य राजा प्राह । कवे उत्तरार्धं त्वया पठितमिति । कविराह ॥

फिर राजाकरके बुलाये हुए वे राजाकी सभाको देखके मिलके सब एकही वार कविताको पढते भये । राजा उस श्लोकको सुन उत्तरार्द्धको कालिदासने किये हुएको जानके ब्राह्मणोंको बोला । जिसने पूर्वार्द्ध बनाया है उसके मुखसे कभी कविता नहीं करानी । उत्तरार्द्धका कुछ देते हैं पूर्वार्द्धका कुछ नहीं देते हैं ऐसे कहके अक्षर २ के लाख २ रुपैये

देवे भया। तिन्होंमें कालिदासको देखके राजा बोला। हे कवे! उत्तरार्द्ध तैंने बनाया है। कवि बोला॥

अधरस्य मधुरिमाणं कुचकाठिन्यं दृशोश्च तैक्ष्ण्यं च॥
कवितायां परिपाकं ह्यनुभवरसिको विजानाति॥८७॥

स्त्रीके अधरामृतकी मिठाई, कुचाओंकी कठिनता, नेत्रोंकी तीक्ष्णता, कविताका परिपाक (भाव) इन सब वस्तुओंके स्वादको अनुभवरसिक अर्थात् जिसने स्वाद चख रक्खा हो वही जानता है॥ ८७॥

राजा च सुकवे सत्यं वदसि॥

राजा बोला हे श्रेष्ठ कवि! सत्य कहते हो॥

अपूर्वो भाति भारत्याः काव्यामृतफले रसः॥
चर्वणे सर्वसामान्ये स्वादुवित्केवलं कविः॥ ८८॥

सरस्वती (वाणी) के काव्यरूपी अमृतफलमें अपूर्व (अलौकिक दिव्य) रस मालूम होता है। चावनेमें सबको समान (बराबर) है और इस फलके स्वादको जाननेवाला केवल कवि है॥ ८८॥

संचिन्त्य संचिन्त्य जगत् समस्तं।
त्रयः पदार्था हृदयं प्रविष्टाः॥
इक्षोर्विकारा मतयः कवीनां।
मुग्धांगनापांगतरंगितानि॥ ८९॥

संपूर्ण जगत्को वारंवार चिंतवन करके तीन पदार्थ हृदयमें बस गये हैं। ईखके विकार (गुड शक्कर खांड आदि)

कवियोंकी बुद्धि, मुग्धा यौवनवती स्त्रियोंके कटाक्षोंकी लहरी ये तीन हैं, इन तीनोंके अनेक भेद हो सक्ते हैं ॥ ८९ ॥

ततः कदाचिद्द्वारपालकः प्रणम्य भोजं प्राह। राजन् द्रविडदेशात् कोपि लक्ष्मीधरनामा । कविर्द्वारमध्यास्त इति । राजा प्रवेशयेत्याह । प्रविष्टमिव सूर्यमिव विभ्राजमानं चिरादप्यविदितवृत्तांतं प्रेक्ष्य राजा विचारयामास प्राह च ॥

फिर किसी समय द्वारपाल प्रणाम करके भोजराजको बोला । हे राजन् ! कोई लक्ष्मीधर नामक कवि द्रविडदेशसे आया है द्वारपार खडा है । राजा बोला कि उसको लाओ, मानो साक्षात् सूर्यही सभामें प्रवेश हो गया ऐसे प्रकाशित हुए-को तथा बहुत वारमेंभी जिसका वृत्तांत नहीं जाना गया, ऐसेको देखकर राजा विचारता भया और कहता भया ॥

आकारमात्रविज्ञानसंपादितमनोरथाः॥
धन्यास्ते ये न शृण्वन्ति दीनाः क्वाप्यर्थिनां गिरः ९०

आकार (स्वरूप) मात्रके ज्ञान होनेसेही जो संपूर्ण मनोरथोंको सिद्ध करते हैं और याचकोंके दीन वचनोंको नहीं सुनते हैं अर्थात् उनको धनाढ्य कर देते हैं वे धन्य हैं॥९०॥

स चागत्य तत्र राजानं स्वस्तीत्युक्त्वा तदाज्ञयोपविष्टः प्राह । देव इयं ते पंडितमंडिता सभा त्वं च साक्षाद्विष्णुरसि । ततः किं नाम पांडित्यं मम तथापि किंचिद्वच्मि ॥

इससे अनंतर वह कवि आके राजाको ' स्वस्ति ' ऐसे आशीर्वाद देके बोलता भया। हे देव! यह तेरी सभा पंडितोंसे शोभित है, तुम साक्षात् विष्णु हो। इसलिये मेरा क्या पांडित्य है तोभी कुछ कहता हूं ॥

भोजप्रतापं तु विधाय धात्रा।
शेषैर्निरस्तैः परमाणुभिः किम् ॥
हरेः करेऽभूत्पविरंबरे च।
भानुः पयोधेरुदरे कृशानुः ॥ ९१ ॥

विधाताने भोजका प्रताप रचा फिर निरंतर अस्त हुए परमाणुओं करके क्या हो सक्ता है। ऐसा विचारके इंद्रके हाथमें वज्र दिया, आकाशमें सूर्य बनाया, समुद्रके उदरमें वडवानल अग्नि बनाया है ॥ ९१ ॥

इति। ततस्तेन परिषच्चमत्कृता। राजा च तस्य प्रत्यक्षरलक्षं ददौ। पुनः कविराह। देव मया सकुटुंबेनात्र निवासाशया समागतम् ॥

इससे अनंतर तिस कविने वह सभा चमत्कारयुक्त कर दी। राजाभी तिसके वास्ते एक २ अक्षरके लाख २ रुपैये देता भया। फिर कवि बोला। हे देव! मैंने यहांपर अपने कुटुंबसहित रहनेकी इच्छासे आगमन किया है ॥

क्षमी दाता गुणग्राही स्वामी पुण्येन लभ्यते ॥
अनुकूलः शुचिर्दक्षः कविर्विद्वान्सुदुर्लभः ॥९२॥ इति

क्षमावान्, दाता, गुणग्राही ऐसा स्वामी पुण्य करके

मिलता है। परंतु अनुकूल, पवित्र, चतुर, कवि, विद्वान् ऐसा स्वामी मिलना दुर्लभ है ॥ ९२ ॥

ततो राजा मुख्यामात्यं प्राहास्मै गृहं दीयतामिति। ततो निखिलमपि नगरं विलोक्य कमपि मूर्खममात्यो नापश्यत् यं निरस्य विदुषे गृहं दीयते। तत्र सर्वत्र भ्रमन् कस्यचित्कुविंदस्य गृहं वीक्ष्य कुविंदं प्राह। कुविंद गृहान्निःसर तव गृहं विद्वानेष्यतीति। ततः कुविंदो राजभवनमासाद्य राजानं प्रणम्य प्राह। देव भवदमात्यो मां मूर्खं कृत्वा गृहान्निःसारयतीति। त्वं तु पश्य मूर्खः पंडितो वेति ॥

फिर राजा मुख्य मंत्रीको बोला कि इसके वास्ते घर देना चाहिये। इससे अनंतर वह मंत्री संपूर्ण नगरको देखके किसीकोभी मूर्ख नहीं देखता भया कि, जिसको निकालके उस विद्वान्के वास्ते घर दिया जावे। तहां शहरमें भ्रमता हुआ मंत्री किसी जुलाहेके घरको देखके (वस्त्र बुननेवाले) जुलाहेको बोला। हे कुविंद (जुलाहा)। घरसे निकल तेरे घरमें विद्वान् पण्डित आवेगा। फिर वह जुलाहा राजाकी सभामें प्राप्त हो राजाको प्रणाम करके बोला। हे देव। तुम्हारा मंत्री मुझको मूर्ख करके घरसे निकालता है। सो तू देख (मैं) मूर्ख हूं वा पंडित हूं ॥

काव्यं करोमि नहि चारुतरं करोमि।
यत्नात्करोमि यदि चारुतरं करोमि ॥

भूपालमौलिमणिमंडितपादपीठ।
हे साहसांक कवयामि वयामि यामि ॥ ९३ ॥

काव्य करता हूं बहुत सुंदर नहीं कर सकता हूं। जो बहुत सुंदर करता हूं तो यत्नसे देरीमें कर सकता हूं। हे भूपालोंके मस्तककी मणियोंकरके शोभितचरण और आसनवाले (उत्तम राजेन्द्र) ! हे साहसांक (दंड देनेके लक्षणवाले) हे राजन् ! ! मैं कविकी तरह आचरण करता हूं तोभी अब जुलाहेका काम करता हूं अब जाता हूं ॥ ९३ ॥

ततो राजा त्वंकारवादेन वदंतं कुविंदं प्राह। ललिता ते पदपंक्तिः। कवितामाधुर्यं च शोभनं। परंतु कवित्वं विचार्य वक्तव्यमिति ॥

फिर राजा 'तू' ऐसा एक वचन कहके बोलते हुए कुविंदको बोला । तेरे पदोंकी पंक्ति ललित (मनोहर) है। कवितामाधुर्य सुंदर है। परंतु कविताको विचारके कहना चाहिये ॥

ततः कुपितः कुविंदः प्राह। देव अत्रोत्तरं भाति किंतु न वदामि राजधर्मः पृथक् विद्वद्धर्मादिति। राजा प्राह अस्ति चेदुत्तरं ब्रूहीति । देव कालिदासादृतेन्यं कविं न मन्ये कोस्ति ते सभायां कालिदासादृते कवितातत्त्वविद्विद्वान् ॥

फिर क्रोधयुत हुआ कुविंद बोला। हे देव! यहां उत्तर दीखता है परंतु मैं नहीं कहता, क्यों कि विद्वान्के धर्मसे

राजधर्म अलगही है । राजा बोला यदि उत्तर है तो कहिये । हे देव ! कालिदासके बिना दूसरे कविको मैं नहीं मानता हूं तेरी सभामें कालिदासके विना कविताके तत्वको जाननेवाला विद्वान् कौन है ? ॥

यत्सारस्वतवैभवं गुरुकृपापीयूषपाकोद्भवं ।
तल्लभ्यं कविनैव नैव हठतः पाठप्रतिष्ठाजुषाम् ॥
कासारे दिवसं वसन्नपि पयःपूरं परं पंकिलं ।
कुर्वाणः कमलाकरस्य लभते किं सौरभं सैरिभः ९४॥

जो गुरुकी कृपारूप अमृतपाकसे उत्पन्न हुआ सरस्वती (वाणी) का वैभव अर्थात् ऐश्वर्य है सो कविनेही मिलाया जाता है । हठ करके पाठप्रतिष्ठाको सेवनेवालोंको नहीं मिल सकता । (जैसे) जलके भरे हुए सरोवर (जोहर) में सारे दिन पडा हुआ केवल कीच मचाता हुआ भैंसा क्यों सरोवरकी सुगंधिको ले सक्ता है । (नहीं ले सक्ता)॥ ९४ ॥

अयं मे वाग्गुंफो विशदपदवैदग्ध्यमधुरः ।
स्फुरद्वंधो वंध्यः परहृदि कृतार्थः कविहृदि ॥
कटाक्षो वामाक्ष्या दरदलितनेत्रांतगलितः ।
कुमारे निःसारः स तु किमपि यूनः सुखयति ॥ ९५ ॥

यह मेरा वाणीका रचनाविशेष ग्रंथ, उत्तम पदोंवाला तथा कवियोंको मधुर लगनेवाला है । इसमें छंदबंध स्फुरते हुए हैं और यह अन्योंके हृदयमें वंध्य अर्थात् वंध्या स्त्रीकी तरह है । कवियोंके हृदयमें कृतार्थ होता है । जैसे नेत्रोंके

कोइयोंके अंतर भागसे छुटा हुआ स्त्रीका कटाक्ष कुमार अर्थात् बालक अवस्थावाले पुरुषविषें निःसार (निष्फल) है और वही कटाक्ष जवानको विलक्षण सुख देनेवाला है ९५

इति। विद्वज्जनवंदिता सीता प्राह ॥

फिर विद्वान्‌जनोंसे वंदित हुई सीता कहती भई ॥

विपुलहृदयाभियोग्ये खिद्यति काव्ये जडो न मौर्ख्यें स्वे
निंदति कंचुकमेव प्रायः शुष्कस्तनी नारी ॥ ९६ ॥

मूर्खजन, बहुत उत्तम हृदयके योग्य काव्यविषें दुःख पाता है (नहीं समझनेसे उसकी निंदा करता है) और अपनी मूर्खतासे दुःख नहीं पाता है। (जैसे कि) विशेष-करके सूखे स्तनोंवाली (छोटी कुचाओंवाली) स्त्री आंगी बनानेवाले दरजीकी निंदा करती है ॥ ९६ ॥

ततः कुविंदः प्राह ॥

फिर वह जुलाहा कवि कहता भया।

बाल्ये सुतानां सुरतेऽगनानां।
स्तुतौ कवीनां समरे भटानाम् ॥
त्वंकारयुक्ता हि गिरः प्रशस्ताः।
कस्ते प्रभो मोहतरः स्मर त्वम् ॥ ९७ ॥

बालकपनेमें पुत्रोंको और मैथुनसमयमें स्त्रियोंको, स्तुति करनेमें कवियोंको, युद्ध करनेमें योद्धाओंको, त्वंकार (तू) ऐसे शब्दसे युक्त हुई वाणी श्रेष्ठ कही है। हे प्रभो! तुम्हारे अत्यंत मोह कहांसे हुआ है स्मरण करो ॥ ९७ ॥

ततो राजा साधु भो कुविंदेत्युक्त्वा तस्याक्षरलक्षं ददौ । मा भैषीरिति पुनः कुविंदं प्राह । एवं क्रमेणातिक्रांते कियत्यपि काले बाणः पंडितवरः परं राज्ञा मान्यमानोपि प्राक्तनकर्मतो दारिद्र्यमनुभवति । एवंस्थिते नृपतिः कदाचिद्रात्रावेकाकी प्रच्छन्नवेशः स्वपुरे चरन् बाणगृहमेत्यातिष्ठत् । तदा निशीथे बाणो दारिद्र्याद्व्याकुलतया कांतां वक्ति । देवि राजा कियद्वारं मम मनोरथमपूरयत् । अद्यापि पुनः प्रार्थितो ददात्येव । परंतु निरंतरप्रार्थनारसे मूर्खस्यापि जिह्वा जडीभवतीत्युक्त्वा मुहूर्तार्धं मौनेन स्थितः । पुनः पठति ॥

इससे अनंतर वह राजा हे कुविंद ! बहुत अच्छा कहा ऐसे कहके एक २ अक्षरके लाख २ रुपैये देता भया। और डरो मत ऐसे कुविंद (जुलाहे) को कहता भया । इस प्रकार क्रमसे कछुक समय बीत गया जब बाणनामक पंडितवर राजा करके परम माना हुआभी था, परंतु पूर्वकर्मसे दरिद्री हो गया । इस प्रकार स्थिति हो गई तब राजा किसी समय रात्रीमें अकेलाही अपने स्वरूपको ढकके अपने पुरमें विचरता हुआ बाणपंडितके घरके पास पहुँचके स्थित होता भया । तब रात्रीमें बाणपंडित दारिद्यसे व्याकुलता होनेसे स्त्रीको कहता है । हे देवि ! राजा अनेक वार मेरे मनोरथको पूर्ण करता भया । अबभी फिर प्रार्थना करनेसे कुछ देताही

है । परंतु निरंतर प्रार्थनारसमें मूर्खकीभी जिह्वा जड (अचेत) हो जाती है, अर्थात् नित्यप्रति मागा नहीं जाता ऐसे कहके एक घडीतक चुपका रहा । फिर पढता है ॥

हर हर पुरहर परुषं क हलाहलफल्गुयाचनावचसोः॥
एकैव तव रसज्ञा तदुभयरसतारतम्यज्ञा ॥ ९८ ॥

हे हर हर ! हे पुरहर अर्थात् त्रिपुरासुरके पुरोंको नष्ट करनेवाले महादेवजी ! ! हलाहल विष और निरर्थक विना-प्रयोजन याचना करनेका वचन इन दोनोंमें कौनसा कठोर है ? तिन दोनोंके रसको कमज्यादेको जाननेवाली एकही तुम्हारी जिह्वा है । शिवजीने जहर भक्षण किया है और याचनाभी की है इससे शिवजीके प्रति वचन कहा है अर्थात् निरर्थक याचना जहरसेभी बुरी है ॥ ९८ ॥

देवि, दारिद्र्यस्यापरा मूर्तिर्याच्ञा न द्रविणान्यति ॥
अपि कौपीनवान् शंभुस्तथापि परमेश्वरः ॥ ९९ ॥

हे देवि ! दारिद्रकी परम मूर्ति याच्ञा है । कुछ धनक अभावही (परमदरिद्ररूप) नहीं है क्योंकि शिवजी कौपीन-धारी नंगा रहनेवाला निर्धन है तौभी परमेश्वर है ॥ ९९ ॥

सेवा सुखानां व्यसनं धनानां ।
याच्ञा गुरूणां कुनृपः प्रजानाम् ॥
प्रणष्टशीलस्य सुतः कुलानां ।
मूलावघातः कठिनः कुठारः ॥ १०० ॥

सुखोंकी जडको काटनेवाला कठोर कुहाडा सेवा है

अर्थात् सेवा (टहल) करनेवालेको सुख नहीं हो सका और धनोंकी जडको काटनेवाला व्यसन है, गुरुओंकी जडको काटनेवाला परम कुहाडा याच्ञा (मांगना) है और प्रजाकी जडको नष्ट करनेवाला दुष्ट राजा है और जिसका शांत स्वभाव नहीं हो ऐसे जनका पुत्र कुलोंकी जडको काटनेवाला परम कुहाडा कहा है ॥ १०० ॥

तत्सत्यापि दारिद्र्ये राज्ञो वक्तुं मया स्वयमशक्यम् ॥

इसलिये दारिद्र्य हुएपरभी मुझसे आपही राजाके आगे नहीं कहा जावे ॥

गच्छन् क्षणमपि जलदो वल्लभतामेति सर्वलोकस्य ॥
नित्यप्रसारितकरः करोति सूर्योऽपि संतापम् ॥ १०१॥

क्षणमात्रमेंही गमन करता हुआ मेघ संपूर्ण लोगोंको प्रिय होता है और नित्यप्रति किरणोंको फैलानेवाला सूर्य सबको संताप करता है ॥ १०१ ॥

किंच देवि, वैश्वदेवावसरे प्राप्ताः क्षुधार्ताः पश्चाद्यांतीति तदेव मे हृदयं दुनोति ॥

परंतु हे देवि ! वैश्वदेवकर्मके समयमें प्राप्त हुए अभ्यागत जन भूखे जाते हैं यही मेरे हृदयको संताप होता है ॥

दारिद्र्यानलसंतापः शांतः सन्तोषवारिणा ॥
याचकाशाविघातांतर्दाहः केनोपशाम्यते ॥ १०२ ॥

दारिद्र्यरूपी अग्निका संताप संतोषरूपी जलसे शांत होता है । परंतु याचककी आशा विघात होनेका अंतर्दाह किससे शांत किया जावे ॥ १०२ ॥

राजा चैतत्सर्वं श्रुत्वा नेदानीं किमपि दातुं योग्यः। प्रातरेव बाणं पूर्णमनोरथं करिष्यामीति निष्क्रांतो राजा॥

राजा इस संपूर्ण वृत्तांतको सुनके अब कुछभी देना योग्य नहीं है। प्रातःकालही बाणपंडितको भरपूर मनोरथवाला करूंगा ऐसा विचार करके चल पड़ा॥

कृतो यैर्न च वाग्मी च व्यसनी तन्न यैः पदम्॥
यैरात्मसदृशो नार्थी किं तैः काव्यैर्बलैर्धनैः॥ १०३॥

जिन (काव्यों) ने (मूर्खजन) चतुर नहीं किया और जिन (बलों) करके व्यसनी (किसी बातको अत्यंत चाहके दुःखी हुआ) पुरुष उसही ठिकानेपर नहीं पहुँचाया और जिन (धनों) ने मांगनेवाले याचक जन अपने समान धनाढ्य नहीं किये उन काव्योंकरके और बलकरके तथा धनकरके क्या भया॥ १०३॥

एवं पुरे परिभ्रममाणे राजनि वर्त्मनि चोरद्वय गच्छति। तयोरेकः प्राह शकुंतकः। सखे स्फारांधकारविततेपि जगत्यंजनवशात्सर्वं परमाणुप्रायमपि वस्तु सर्वत्र पश्यामि। परंतु संभारगृहानीतकनकजातमपि न मे सुखायेति। द्वितीयो मरालनामा चोर आह। आहृतं संभारगृहात् कनकजातमपि न हितमिति कस्माद्धेतोरुच्यते इति। ततः शकुंतकः प्राह। सर्वतो नगररक्षकाः परिभ्रमंति सर्वोपि जागरिष्यत्येषां भेरीपटहादीनां निनादेन। तस्मादाहृत विभज्य

स्वस्वभागागतं धनमादाय शीघ्रमेव गंतव्यमिति । मरालः प्राह । सखे त्वमनेन कोटिद्वयपरिमितमणिककनकजातेन किं करिष्यसीति । शकुंतः-एतद्धनं कस्मैचिद्द्विजन्मने दास्यामि । यथायं वेदवेदांगपारगो अन्यं न प्रार्थयति । मरालः-सखे चारु ॥

इस प्रकार राजा घूम रहा था उसी समय मार्गमें दो चोर चले जाते थे । तिन्होंमें एक 'शकुंतक' नामक चोर बोला । हे सखे ! बहुत घना अंधेराभी फैल रहा है तोभी (सिद्ध) अंजनके वशसे जगत्में मैं सब कुछ देखता हूं परमाणुमात्र द्रव्यकोभी सब जगह देखता हूं । परंतु खजानेसे लाया हुआ सुवर्णमात्रभी यह सब द्रव्य मेरे सुखके वास्ते नहीं है । दूसरा 'मराल' नामक चोर बोला कि, खजानेमेंसे लाया हुआ सुवर्णमात्रभी हित नहीं है, यह रुचि किसवास्ते होती है । फिर शकुंतक बोला सब जगह नगरके रक्षक सिपाही लोग घूम रहे हैं, और भेरी, ढोल आदिके शब्दोंकरके सब जाग उठेंगे । इसलिये चोरे हुए धनको बांटके अपने २ हिस्सेमें आये हुए धनको लेके शीघ्रही गमन करना चाहिये । मराल बोला, हे सखे ! दो करोड परिणाम सुवर्ण मणिका इस धनकरके क्या करोगे । शकुंत बोला इस धनको किसी ब्राह्मणके वास्ते दूंगा । उससे यह वेदवेदांगको जाननेवाला ब्राह्मण किसी दूसरेकी याचना नहीं करे । मराल बोला हे सखे ! बहुत अच्छा है ॥

दद्तो युध्यमानस्य पठतः पुलकोथ चेत् ॥
आत्मनश्च परेषां च तद्दानं पौरुषं स्मृतम् ॥१०४॥

दान करते हुएके, युद्ध करते हुएके, पाठ करते हुएके रोमांच खडे हो जावें। वही दान और पुरुषार्थ कहा है ॥ १०४

मरालः-अनेन दानेन तव कथं पुण्यफलं भविष्यतीति। अस्माकं पितृपैतामह्योयं धर्मः यच्चौर्य्येण वित्तमानीयते। मरालः-शिरश्छेदमंगीकृत्यार्जितं द्रव्यं निखिलमपि कथं दीयते। शकुन्तः ॥

मराल बोला इस दानकरके तुमको पुण्यका फल कैसे होगा। (शकुंतक बोला) जो चोरीकरके धन लाया जाता है यह हमारा पिता पितामह (दादा) का धर्म चला आता है। मराल कहने लगा शिर कटनेकी जोखमको अंगीकार करके संचित किया हुआ संपूर्ण धन कैसे दिया जावेगा। शकुंत बोला ॥

मूर्खो नहि दद्त्यर्थं नरो दारिद्र्यशंकया ॥
प्राज्ञस्तु वितरत्यर्थं नरो दारिद्र्यशंकया ॥१०५॥

मूर्ख आदमी दरिद्रकी शंका करके धनका दान नहीं करता है। और बुद्धिमान् मनुष्य तो दरिद्रकीही शंका करके धनका दान करता है अर्थात् दरिद्र आनेसे सब धन नष्ट हो जावेगा। दान करनाही मुख्य है ॥ १०५ ॥

किंचिद्वेदमयं पात्रं किंचित्पात्रं तपोमयम् ॥
पात्राणामुत्तमं पात्रं शूद्रान्नं यस्य नोदरे ॥ १०६ ॥

जो वेदपाठी हो वह कछुक पात्र है और तपस्या करनेवालाभी कछु पात्र है परंतु जिसके उदरमें शूद्रका अन्न नहीं पहुँचता है वह सब पात्रोंमें उत्तम सत्पात्र है ॥ १०६ ॥

शकुंतः-अनेन वित्तेन किं करिष्यति भवान् । मरालःसखे काशीवासी कोपि विप्रबटुरत्रागात् । तेनास्मत्पितुः पुरः काशीवासफलं व्यावर्णितम् । ततोस्मत्तातः बाल्यादारभ्य चौर्यं कुर्वाणो दैववशात् स्वपापान्निवृत्तो वैराग्यात्सकुटुंबः काशीमेष्यति । तदर्थमिदं द्रविणजातम् । शकुंतः-महद्भाग्यं तव पितुः । तथाहि ॥

शकुंत बोला इस द्रव्यसे तुम क्या करोगे । मराल कहने लगा, हे मित्र ! काशीनिवासी कोई ब्राह्मणका बालक यहां आता भया । उसने मेरे पिताके आगे काशीमें निवास करनेका फल वर्णन किया है । तिससे हमारा पिता बालकअवस्थासे अबतक चोरी करता हुआभी दैवके वशसे अपने पापसे निवृत्त हो वैराग्य होनेसे कुटुंबसहित काशीजीमें जावेगा । तिसके वास्ते यह संपूर्ण धन है । शकुंत कहने लगा तेरे पिताका बहुत उत्तम भाग्य है, देखो ॥

वाराणसीपुरीवासवासनावासितात्मना ॥
किं शुना समतां याति वराकः पाकशासनः ॥ १०७॥

काशीपुरीमें वसनेकी वासना (इच्छा) से संयुक्तमनवाले कुत्ताकी बराबरभी क्या बिचारा गरीब इंद्र हो सक्ता है ? अर्थात् इंद्रभी उस कुत्ताके समान नहीं ॥ १०७ ॥

ऊषरं कर्मसस्यानां क्षेत्रं वाराणसी पुरी ॥
यत्र संलभ्यते मोक्षः समं चंडालपंडितैः ॥ १०८॥

काशीपुरी कर्मरूपी बीजोंका ऊसर खेत है अर्थात् सब कर्मोंका नाश करनेवाली है । क्योंकि, जिसमें चांडाल और पंडित इन दोनोंकोभी समतासे मोक्ष होता है ॥ १०८ ॥

मरणं मंगलं यत्र विभूतिश्च विभूषणम् ॥
कौपीनं यत्र कौशेयं सा काशी केन मीयते ॥ १०९ ॥

जहां मरना मंगलरूप है, विभूति आभूषणरूप है, कौपीन जहां रेशमीवस्त्रकी बराबर है उस काशीजीकी बराबरी कौन कर सकता है ? ॥ १०९ ॥

एवमुभयोः संवादं श्रुत्वा राजा तुतोष । अचिंतयच्च मनसि कर्मणां गतिः । सर्वथैव विचित्रा उभयोरपि पवित्रा मतिरिति । ततो राजा विनिवृत्य भवनांतरे पितृपुत्रावपश्यत् । तत्र पिता पुत्रं प्राह । इदानीं परिज्ञातशास्त्रतत्त्वोपि नृपतिः कार्पण्येन किमपि न प्रयच्छति । किंतु ॥

ऐसे उन दोनोंके संवादको सुनके राजा प्रसन्न होता भया । और मनमें कर्मोंकी गतिको चिंतवन करता भया । सब तरह विचित्रता है, दोनोंकी बुद्धि पवित्र है ऐसा विचारा । इससे अनंतर यहांसे हटके राजा दूसरे घरपर जाता भया, वहां पिता-पुत्रको देखता भया । तहां पिता पुत्रको कहता है । अब शास्त्रके तत्वको जाननेवालाभी राजा कृपणताकरके कुछभी नहीं देता है । किंतु ॥

अर्थिनि कवयति कवयति पठति च पठति स्तवोन्मुखे स्तौति ॥ पश्चाद्यामीत्युक्ते मौनी दृष्टिं निमीलयति ॥ ११० ॥

प्रयोजनवाले याचना करनेवाले कविता करनेवालेकी कविताके ऊपर कविता करता है। पढते हुएपर पढता है, स्तुति करते हुएपर स्तुति करता है फिर मैं जाता हूं ऐसे कहनेपर चुपका होके नेत्र मीच लेता है ॥ ११० ॥

राजा एतच्छ्रुत्वा तत्समीपं प्राप्य मैवं वदेति स्वगात्रात्सर्वाभरणान्युत्तार्य दत्त्वा तस्मै ततो गृहमासाद्य कालांतरे सभामुपविष्टः कालिदासं प्राह सखे ॥

राजा इस बातको सुन तिसके पास जाके बोला कि ऐसे मत कहो, इस प्रकार कह अपने शरीरसे सब आभूषणोंको उतारके तिसके वास्ते देके फिर अपने घरमें आके किसी समयमें सभामें बैठ कालिदासको बोला हे सखे ! ॥

कवीनां मानसं नौमि तरति प्रतिभांभसा[1] ॥ ततः कविराह ॥

यत्पोतेन पयांसीव भुवनानि चतुर्दश ॥ १११ ॥

मैं कवियोंके मनकी स्तुति करता हूं, जिन कवियोंकी प्रतिभा अर्थात् नवीन २ पदार्थको खोजनेवाली बुद्धि जलसे तिर जाती है। तब कवि बोला। उसही बुद्धिरूप डोनीकरके चौदह भुवन ऐसे पार किये जाते हैं जैसे डोनी जलसे पार उतर जाती है ॥ १११ ॥

---

१ प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिमा इति रुद्रः ।

ततो राजा प्रत्यक्षरमुक्ताफललक्षं ददौ । ततः प्रविशति द्वारपालः । देव कोपि कौपीनावशेषो विद्वान् द्वारि तिष्ठतीति । राजा प्रवेशय । ततः प्रवेशितः कविरागत्य स्वस्तीत्युक्त्वानुक्त एवोपविष्टः प्राह ॥

इससे अनंतर वह राजा एक २ अक्षरके लाख २ मोती देता भया । इससे अनंतर द्वारपाल सभामें आता है । हे देव ! कोई कौपीनमात्र धारण किये हुए विद्वान् द्वारपर खडा है । राजा बोला उसको भीतर लावो, फिर भीतर पहुँचाया तब वह कवि आके स्वस्ति ऐसे कहके आज्ञासे बैठ गया और कहने लगा ॥

इह निवसति मेरुः शेखरो भूधराणा- ।
मिह हि निहितभाराः सागराः सप्त चैव ॥
इदमतुलमनंतं भूतलं भूरि भूतो- ।
द्भवधरणसमर्थं स्थानमस्मद्विधानाम् ॥११२॥

इस जगह सब पर्वतोंका शिखररूप सुमेरु पर्वत वसता है । इस जगह संपूर्ण भारों सहित सात समुद्र वसते हैं । यह (तुम्हारा) स्थान अतुल अनंत भूखंडरूप है । बहुत प्राणियोंकी उत्पत्ति धारणको समर्थ है ॥ ११२ ॥

राजा महाकवे किं ते नाम अभिधत्स्व । कविः नामग्रहणं नोचितं पीडतानां, तथापि वदामो यदि जानासि॥

राजा बोला हे महाकवे ! तुम्हारा क्या नाम है बताओ ।

कवि बोला नाम कहना पंडितोंको योग्य नहीं है, तोभी कहेंगे जो तुम जानते हो तो ॥

नहि स्तनंधयी बुद्धिर्गंभीरं गाहते वचः ॥
तलं तोयनिधेर्द्रष्टुं यष्टिरस्ति न वैणवी ॥ ११३ ॥

चूंची पीनेवालोंकी बुद्धि गंभीर वचनकी थाहको नहीं जान सकती है। जैसे बांसकी लाठी समुद्रकी तलीको नहीं ढूंढ सकती है ॥ ११३ ॥

देवाकर्णय ॥

हे देव ! सुनो ॥

च्युतामिंदोर्लेखां रतिकलहभग्नं च वलयं ।
समं चक्रीकृत्य प्रहसितमुखी शैलतनया ॥
अवोचद्यं पश्येत्यवतु गिरिशः सा च गिरिजा ।
स च क्रीडाचंद्रो दशनकिरणापूरिततनुः ॥ ११४॥

पार्वती महादेवके रमणसमयमें खेलक्रीडामें चंद्रमाकी कला गिर पडी और पार्वतीका कंगन टूट गया। तब दोनोंको बराबर करके चक्रकी तरह बनाके हँसते हुए मुखवाली पार्वतीजी जिसको देखो ऐसे कहती भई। वह दांतोंकी किरणोंकरके (चंद्रपक्षमें बत्तीस किरणोंकरके) पूरित शरीरवाला सो क्रीडाचंद्र और इस प्रकार वह शिवजी और पार्वती तुम्हारी रक्षा करो ॥ ११४ ॥

कालिदासः सखे क्रीडाचंद्र चिराद्दृष्टोसि। कथमीदृशी ते दशा मंडले मंडले विराजत्यपि राजनि बहुधनवति क्रीडाचद्रः ॥

कालिदास बोला हे सखे क्रीडाचंद्र! बहुत दिनोंमें देखे हो। तुम्हारी ऐसी दशा कैसे हो गई, मंडल २ में बहुत धनवान् राजा लोग विराजमान हुए परभी क्यों यह अवस्था भई। क्रीडाचंद्र बोला॥

धनिनोप्यदानविभवा गण्यंते धुरि महादरिद्राणाम्॥
हंति न यतः पिपासामतः समुद्रोपि मरुरेव॥ ११५॥

जिनके दानरूप विभव नहीं है वे धनी लोगभी महादारिद्रियोंके अग्रभागमें गिने जाते हैं। जिससे तृषा दूर नहीं होवे वह समुद्रभी मरुस्थलही है॥ ११५॥

किंच—उपभोगकातराणां पुरुषाणामर्थसंचयपराणां॥
कन्यामणिरिव सदने तिष्ठत्यर्थः परस्यार्थे॥११६॥

औरभी है। जो लक्ष्मीका भोग नहीं कर सकते हैं और धनको संचयही करते हैं उनके भवनमें जैसे कन्यारूप मणि हो तैसे परायेही वास्ते वह धन ठहर रहा है अर्थात् कन्याभी अन्यको विवाही जाती है। इसी तरह वह धनभी अन्यकाही है॥ ११६॥

सुवर्णमणिकेयूराडंबरैरन्यभूभृतः॥
कलयैव पदं भोज तेषामाप्नोति सारवित्॥११७॥

हे भोज! अन्य राजा लोग तो सुवर्ण मणि, बाजूबंद इत्यादिक आडंबरोंकरके विराजमान रहते हैं और सारवेत्ता (उत्तम राजा) अपनी कला करकेही तिन्होंके पद (स्थान) को प्राप्त होता है॥ ११७॥

सुधामयानीव सुधां गलंति ।
विदग्धसंयोजनमंतरेण ॥
काव्यानि निर्व्याजमनोहराणि ।
वारांगनानामिव यौवनानि ॥११८॥

कवियोंके काव्य अमृतरूप हैं अमृतको गिराते हैं और जिनमें कोई विदग्ध अक्षर न हो अथवा कोई रस अलंकार बिगडा हुआ न हो ऐसे वे काव्य मानो सुधामय अर्थात् अमृतरूपही इस प्रकार अमृत रसको गिराते हैं। जैसे वेश्याओंके मनोहर निष्कपट हुए यौवन सभीको अमृतरस समान सुख देते हैं वे किसीसे कपट नहीं करते हैं ॥ ११८ ॥

ज्ञायते जातु नामापि न राज्ञः कविता विना ॥
कवेस्तद्व्यतिरेकेण न कीर्तिः स्फुरति क्षितौ ॥११९॥

कविताके विना राजाका नामभी कभी नहीं जाना जाता है और तिस राजाके विना कविकी कीर्तिभी पृथ्वीपर नहीं प्रकट होती है ॥ ११९ ॥

मयूरः-ते वंद्यास्ते महात्मानस्तेषां लोके स्थिरं यशः
यैर्निबद्धानि काव्यानि ये च काव्ये प्रकीर्तिताः॥१२०॥

मयूर-वे प्रणाम करने योग्य हैं, वे महात्मा हैं, उनहीका लोकमें स्थिर यश है कि जिन्होंने काव्य रचे हैं और जो काव्यमें वर्णन किये गये हैं ॥ १२० ॥

वररुचिः-पदव्यक्तव्यक्तीकृतसहृदयाबंधललिते ।
कवीनां मार्गेस्मिन् स्फुरति बुधमात्रस्य धिषणा ॥

न च क्रीडालेशव्यसनपिशुनोयं कुलवधू- ।
कटाक्षाणां पंथाः स खलु गणिकानामविषयः १२१

वररुचिः—पदोंके प्रगट करनेमें हृदयका अभिप्राय प्रकट किया गया है जिसमें ऐसे मनोहर कवियोंके इस मार्गमें पंडितमात्रकी बुद्धि स्फुरती है। यह मार्ग क्रीडाका लेशका व्यसनका विरोधी नहीं है। किंतु कुलवधुओंके कटाक्षोंका मार्ग है और यह निश्चयही वेश्याओंका विषय नहीं है॥ १२१॥

राजा क्रीडाचंद्राय विंशतिं गजेंद्रान् ग्रामपंचकं च ददौ। ततो राजानं कविः स्तौति॥

राजा क्रीडाचंद्रके वास्ते बीस हाथी और पांच ग्राम इनाम देता भया। इससे अनंतर कवि राजाकी स्तुति करता है॥

कंकणं[1] नयनद्वंद्वे तिलकं[2] करपल्लवे॥
अहो भूषणवैचित्र्यं भोजप्रत्यर्थियोषिताम्॥ १२२॥

अहो आश्चर्य है कि भोजराजाके शत्रुओंकी स्त्रियोंके अद्भुत आभूषण हैं कि दोनों नेत्रोंमें कंकण (जलकी बूंद आंशू) है और हाथोंमें तिलक (तिलोदक है)॥ १२२॥

तुष्टो राजा पुनरक्षरलक्षं ददौ। ततः कदाचित् कोपि जराजीर्णसर्वांगसंधिः पंडितो रामेश्वरनामा सभामभ्यगात् स चाह॥

फिर प्रसन्न हुआ राजा अक्षर २ के प्रति एक २ लाख रुपैये देता भया। फिर किसी समयमें कोई वृद्ध अव-

१ कंकणं उदकबिंदुः। २ तिलोदकम्।

स्थासे शिथिल अंगोंवाला (बूढा) पंडित रामेश्वर नामक सभामें आता भया वह बोला ॥

पंचाननस्य सुकवेर्गजमांसैर्नृपश्रिया ॥
पारणा जायते क्वापि सर्वत्रैवोपवासिनः ॥ १२३ ॥

सब जगह उपवास व्रत करनेवाले निराहार रहनेवाले सिंहकी और श्रेष्ठ कविके पारणा (भोजनतृप्ति) हाथीके मांससे और राजाकी ऐश्वर्यसेही होती है ॥ १२३ ॥

वाहानां पंडितानां च परेषामपरो जनः ॥
कवींद्राणां गजेंद्राणां ग्राहको नृपतिः परः ॥ १२४ ॥

अन्य वाहनोंके और पंडितोंके ग्राहक तो अन्यही जन हो जाते हैं। कवीन्द्रोंका और हाथियोंका ग्राहक तो उत्तम राजा होता है ॥ १२४ ॥

एवं हि-सुवर्णैः पट्टचैलैश्च शोभा स्याद्वारयोषिताम् ॥
पराक्रमेण दानेन राजंते राजनंदनाः ॥ १२५ ॥

ऐसेही है। सुवर्ण करके और रेशमी वस्त्रोंकरके वेश्याओंकी शोभा होती है। पराक्रमकरके और दानकरके राजकुमार शोभित होते हैं ॥ १२५ ॥

इत्याकर्ण्य राजा रामेश्वरपंडिताय सर्वाभरणान्युत्तार्य लक्षद्वयं प्रायच्छत् । ततः स्तौति कविः ॥

ऐसे सुनके राजा संपूर्ण आभूषणोंको उतारके रामेश्वर पंडितके वास्ते दो लाख रुपैये देता भया । फिर वह कवि स्तुति करता है ॥

भोज त्वत्कीर्तिकांताया नभोभाले स्थितं महत् ॥
कस्तूरीतिलकं राजन् गुणाकर विराजते ॥ १२६ ॥

हे राजन्! हे गुणाकर (गुणोंकी खान)!! तुम्हारी कीर्तिरूप कांता (स्त्री) का महान् कस्तूरीका तिलक आकाशके मस्तकपर स्थित है अर्थात् तुम्हारी कीर्ति स्वर्गतक पहुँची है ॥ १२६ ॥

बुधाग्रे न गुणान्ब्रूयात् साधु वेत्ति यतः स्वयम् ॥
मूर्खाग्रेपि च न ब्रूयात् बुधप्रोक्तान्न वेत्ति सः ॥१२७॥

पंडितके आगे गुणोंको नहीं कहे क्योंकि वह बुद्धिमान् आपही भले प्रकारसे जानता है। और मूर्खके आगेभी गुणोंको नहीं कहे क्योंकि वह मूर्ख पंडितके कहे हुओंको नहीं जानता है ॥ १२७ ॥

तेन चमत्कृताः सर्वे। रामेश्वरकविः प्राह ॥

तिससे सब जन चमत्कारयुक्त हो गये। फिर रामेश्वर कवि बोला ॥

ख्यातिं गमयति सुजनः सुकविर्विदधाति केवलं कार्यम्
पुष्णाति कमलमंभो लक्ष्म्या तु रविर्वियोजयति १२८

श्रेष्ठ जन विख्यातिको प्राप्त करता है और सुंदरकवि केवल कार्यको रचता है। कमलको जल बढाता है परंतु शोभासहित तो सूर्यही करता है ॥ १२८ ॥

ततस्तुष्टो राजा प्रत्यक्षरलक्षं ददौ। राजेंद्रं कविः प्राह॥

तिससे अनंतर प्रसन्न हुआ राजा एक २ अक्षरके लाख २ रुपैये देता भया। राजेंद्रको कवि बोला ॥

कवित्वं न शृणोत्येव कृपणः कीर्तिवर्जितः ॥
नपुंसकः किं कुरुते पुरःस्थितमृगीदृशा ॥ १२९ ॥

कीर्तिरहित हुआ कृपणजन कविताको नहीं सुनता है। आगे स्थित हुई स्त्री करके नपुंसक क्या करता है ॥ १२९ ॥

सीता प्राह–हता दैवेन कवयो वराकास्ते गजा अपि ॥
शोभा न जायते तेषां मंडलेंद्रगृहं विना ॥ १३० ॥

सीता बोली–जो दैवकरके हत हो जाते हैं ऐसे कवि और हस्ती, गरीब (दीन) हैं। राजाके घरके विना उनकी शोभा नहीं होती है ॥ १३० ॥

कालिदासः-अदातृमानसं क्वापि न स्पृशंति कवेर्गिरः॥
दुःखायैवातिवृद्धस्य विलासास्तरुणीकृताः ॥ १३१ ॥

कालिदास–कविकी वाणी कृपणके मनको स्पर्श नहीं करती है जैसे जवान स्त्रीके किये हुए हावभाव, विलास, अत्यंत वृद्धको दुःखके देनेवाले होते हैं ॥ १३१ ॥

राजा प्रतिपंडितं लक्षं लक्षं दत्तवान् । ततः कदाचिद्राजा समस्तादपि कविमंडलादधिकं कालिदासमवलोक्य आयांतं परं वेश्यालोलत्वेन चेतसि खेदलवं चक्रे । तदा सीता विद्वद्वृंदवंदिता तदभिप्रायं ज्ञात्वा प्राह । देव ॥

फिर राजा पंडित २ प्रति एक एक २ लाख रुपैये देता भया। तिससे अनंतर किसी समय राजा संपूर्ण कविमंडलसे अधिक कालिदासको देखके आते हुए परमवेश्यागामीको

विचारके अपने मनमें कछुक खेद करता भया। तब तिसके अभिप्रायको जानके विद्वज्जनोंसे वंदित हुई सीताजी बोली। हे देव!॥

दोषमपि गुणवति जने दृष्ट्वा गुणरागिणो न खिद्यंते॥
प्रीत्यैव शशिनि पतितं पश्यति लोकः कलंकमपि१३२

गुणवान् मनुष्योंमें दोषकोभी देखके गुणके स्नेही जन खेद नहीं पाते हैं। जैसे चंद्रमाविषें परे हुए कलंकको सब लोक (सब संसार) प्रीति करकेही देखता है॥ १३२॥

तुष्टो राजा सीतायै लक्षं ददौ। तथापि कालिदासं यथापूर्वं न मानयति यदा तदा स च कालिदासो राज्ञोऽभिप्रायं विदित्वा तुलामिषेण प्राह॥

प्रसन्न हुआ राजा सीताके वास्ते लाख रुपैये देता भया। ऐसे होनेपरभी जब वह राजा पहलेकी तरह कालिदासको नहीं मानने लगा, तब वह कालिदास राजाके अभिप्रायको जानके तुला (तराजू) के मिससे बोला॥

प्राप्य प्रमाणपदवीं को नामास्ते तुलेऽवलेपस्ते॥
नयसि गरिष्ठमधस्तात्तदितरमुच्चैस्तरां कुरुषे॥१३३॥

हे तराजू! प्रमाण (मान) की पदवीको प्राप्त होके तेरे क्या अभिमान (गर्व) है, गरिष्ठ अर्थात् महान् भारीको नीचेको करती है और हलकेको ऊपर करती है॥ १३३॥

पुनराह—यस्यास्ति सर्वत्र गतिः स कस्मात्।
स्वदेशरागेण हि याति खेदम्॥

तातस्य कूपोयमिति ब्रुवाणाः ।
क्षारं जलं कापुरुषाः पिबंति ॥ १३४ ॥

फिर बोला-जिसकी सब जगह गति है वह अपने देशके स्नेहसे खेदको क्यों प्राप्त होता है । यह हमारा पिताका कूवा है ऐसे कहते हुए मूर्ख पुरुष खारे जलको पीते हैं ॥ १३४ ॥

ततो राज्ञा कृतामवज्ञां मनसि विदित्वा कालिदासो दुर्मनाः निजवेश्म ययौ ॥

फिर राजासे किये हुए तिरस्कारको मनमें जानके कालिदास उदास होके अपने घरमें गया ॥

अवज्ञास्फुटितं प्रेम समीकर्तुं क ईश्वरः ॥
संधिं न याति स्फुटितं लाक्षालेपेन मौक्तिकम्॥१३८॥

तिरस्कारसे फटे हुए प्रेमको समान (अच्छे) करनेको कौन समर्थ है । फूटा हुआ मोती लाखके लेपसे नहीं जुड सकता ॥ १३५ ॥

ततो राजापि खिन्नः स्थितः । ततो लीलावती खिन्नं दृष्ट्वा राजानं विषादकारणमपृच्छत् । राजा च रहसि सर्वं तस्यै प्राह । सा च राजमुखेन कालिदासावज्ञां ज्ञात्वा पुनः प्राह । देव प्राणनाथ सर्वज्ञोसि ॥

फिर राजाभी उदास हुआ स्थित हो गया । फिर लीलावती दुःखित राजाको देखके विषादके कारणको पूंछती भई । फिर राजा एकांतमें तिसके वास्ते सब वृत्तांत कहता भया । वहभी राजाके मुखसे कालिदासके तिरस्कारको

सुनके फिर बोली । हे देव प्राणनाथ ! तुम सर्वज्ञ हो ॥

स्नेहो हि वरमघटितो न वरं संजातविघटि-
तस्नेहः ॥ हृतनयनो हि विषादी न विषादी
भवति स खलु जात्यंधः ॥ १३६ ॥

विना किया हुआ स्नेह अच्छा है और पहले करके फिर स्नेह तोडना अच्छा नहीं । जैसे जिसके नेत्र नष्ट हो जाते हैं वह दुःखी है । जो जन्मसे अंधा हो वह दुःखी नहीं होता है ॥ १३६ ॥

परंतु कालिदासः कोपि भारत्याः पुरुषावतारः । तत्सर्वभावेन संमानयैनं विद्धद्भ्यः पश्य ॥

परंतु कालिदास कोई सरस्वतीका पुरुष अवतार है । इस वास्ते सर्वभावसे इसको विद्वानोंकरके मनवाओ, देखो ॥

दोषाकरोपि कुटिलोपि कलंकितोपि ।
मित्रावसानसमये विहितोदयोपि ॥
चंद्रस्तथापि हरवल्लभतामुपैति ।
नैवाश्रितेषु गुणदोषविचारणा स्यात् ॥१३७॥

दोषों (क्षीणता आदि) का स्थानभी है, भाव यह है कि चंद्रमाको दोषाकर अर्थात् क्षपाकर कहते हैं उसीका अर्थ कहा है, कुटिलभी है (टेढाभी है), कलंकवालाभी है, मित्रके अंतसमयमें अर्थात् सूर्यास्तसमयमें उदय होता है ऐसाभी चंद्रमा शिवजीका प्रियही है इसीसे आश्रय रहनेवालोंके गुणदोषोंका विचार नहीं करना ॥ १३७ ॥

राजा प्रिये सर्वमेतत्सत्यमेवेत्यंगीकृत्य श्वः कालिदासं प्रातरेव संतोषयिष्यामीत्यवोचत् । अन्येद्यू राजा दंतधावनादिविधिं विधाय निर्वर्तितनित्यकृत्यः सभां प्राप । पंडिताः कवयश्च गायका अन्ये प्रकृतयश्च सर्वे समाजग्मुः । कालिदासमेकमनागतं वीक्ष्य राजा स्वसेवकमेकं तदाकारणाय वेश्यागृहं प्रेषयामास । स च गत्वा कालिदासं नत्वा प्राह । कवींद्र त्वामाकारयति भोजनरेंद्र इति । ततः कविर्व्यचिंतयत् । गतेऽह्नि नृपेणावमानितोऽहमद्य प्रातरेवाकारणे किं कारणमिति ॥

राजा कहने लगा, हे प्रिये ! यह सब सत्यही है ऐसे अंगीकार करके कल प्रातःकालही कालिदासको प्रसन्न करूंगा ऐसे कहा । दूसरे दिन राजा दंतधावन आदि शौचक्रिया करके नित्यकर्मसे निवृत्त होके सभामें पहुँचा । पंडित, कवि, गायक, अन्य सब राजाकी प्रजाके लोग संपूर्ण आते भये । तब एक कालिदासको नहीं आये हुएको देखके राजा अपने एक सेवकको तिस कालिदासके बुलानेके वास्ते वेश्याके घरपर भेजता भया । वह जाके कालिदासको प्रणाम करके बोला । हे कवीन्द्र ! भोजराज नरेन्द्र तुमको बुलाते हैं । तब कवि विशेष चिंतवन करता भया कि, पिछले कलके दिन राजाने मेरा अपमान किया था अब प्रातःकालही बुलानेका क्या कारण है ? ॥

यं यं नृपोऽनुरागेण संमानयति संसदि ॥
तस्य तस्योत्सारणाय यतंते राजवल्लभाः ॥ १३८ ॥

राजा जिस २ मनुष्यको सभामें प्रीतिसे मानता है तिसही तिसको उखाडनेके वास्ते राजाके प्रिय लोग यत्न करते हैं ॥ १३८ ॥

किंतु विशेषतो राज्ञा अन्वहं मान्यमाने मयि मायाविनो मत्सराद्वैरं बोधयंति ॥

किंतु विशेष करके दिन २ प्रति राजाकरके मेरा मान होनेपर मायावी लोग ईर्षा करके वैरका बोध कराते हैं ॥

अविवेकमतिर्नृपतिर्मंत्रिषु गुणवत्सु यंत्रितग्रीवः ॥
यत्र खलाश्च प्रबलास्तत्र कथं सज्जनावसरः ॥ १३९ ॥

ज्ञानकी बुद्धिसे रहित हुआ राजा गुणवान् मंत्रियोंके वशमें रहता है और जहां खल (दुष्ट) जन प्रबल होते हैं वहां सज्जन पुरुषोंका अवकाश कैसे हो सक्ता है ॥ १३९ ॥

इति विचारयन् सभामागच्छत् । ततो दूरे समायांतं वीक्ष्य सानंदमासनादुत्थाय सुकवे मत्प्रियतमाद्य कथं विलंबः क्रियत इति भाषमाणः पंच षट् पदानि संमुखो गच्छति । ततो निखिलापि सभा स्वासनादुत्थिता सर्वे सभासदश्च चमत्कृताः । वैरिणश्चास्य विच्छायवदना बभूवुः । ततो राजा निजकरकमलेन अस्य करकमलमवलंब्य स्वासनदेशं प्राप्य तं च सिंहासने उपवेश्य स्वयं च तदाज्ञया तत्रैवोपविष्टः । ततो राजसिंहासनारूढे कालिदासे बाणकविर्दक्षिणं बाहुमुद्धृत्य प्राह ॥

ऐसे विचारता हुआ सभामें आया। फिर दूरही आते हुए कालिदासको देखके राजा आनंदसे आसनसे खडा हो, हे सुकवे ! मेरे प्रियतम ! अब कैसे विलंब किया ऐसे कहता हुआ पांच छः पैर (डंग) सन्मुख चला गया। तब सब सभाके मनुष्य, अपने २ आसनोंसे खडे होते भये, सभापति लोग चमत्कारको प्राप्त हो गये । और इस कालिदासके वैरी लोग उदासमुखवाले हो गये । फिर राजा अपने हस्तकमल-करके इसके हस्तकमलको पकडके अपने आसनकी जगह प्राप्त हो तिस कविको सिंहासनपर बिठाके आपभी तिसकी आज्ञा पायके वहांही बैठ गया । इससे अनंतर कालिदास राजसिंहासनपर बैठ गया। तब बाण कवि अपनी दहिनी भुजा उठाके बोला ॥

भोजः कलाविद्रुद्रो वा कालिदासस्य माननात् ॥
विबुधेषु कृतो राजा येन दोषाकरोऽप्यसौ॥१४०॥

भोज कलाओंको जाननेवाला है अथवा रुद्र (महा-देव) है । क्या जिसने दोषाकर (दोषोंकी खान) भी यह कालिदास पंडित ब्राह्मणोंमें राजा कर दिया (इस पक्षमें रुद्र नाम भयानकका लेना । महादेव पक्षमें दोषाकर नाम चंद्रमाका है । जैसे क्षपाकर कहते हैं । चंद्रमाभी ब्राह्मणोंका राजा कहाता है) ॥ १४० ॥

ततोऽस्य विशेषेण विद्वद्भिः सह वैरानलः प्रदीप्तः । ततः कैश्चिद्विद्वद्भिः मंत्रयित्वा सर्वैरपि विद्वद्भिः भो-

जस्य तांबूलवाहिनी दासी धनकनकादिना संभानिता । ते च तां प्रत्युपायमूचुः । सुभगे अस्मत्कीर्तिमसौ कालिदासो गलयति । अस्मासु कोऽपि नैतेन कलासाम्यं प्रवहते । वत्से यथैनं राजा देशांतरं निःसारयति तद्भवत्या कर्तव्यमिति । दासी प्राह । भवद्भ्यो हारं प्राप्य मया युष्मत्कार्यं क्रियते तन्मम प्रथमं हारो दातव्य इति । ततः सा तांबूलवाहिनी तैर्दत्तं हारमादाय व्यचिंतयत् । तथाहि । बुधैरसाध्यं किं वास्ति । ततः समतिक्रामत्सु कतिपयवासरेषु दैवादेकाकिनि प्रसुप्ते राजनि चरणसंवाहनादिसेवामस्य विधाय तत्रैव कपटेन नेत्रे निमील्य सुप्ता । ततश्चरणचलनेन राजानमीषज्जागरूकं सम्यग्ज्ञात्वा प्राह । सखि मदनमालिनि स दुरात्मा कालिदासः दासीवेषेण अंतःपुरं प्राप्य लीलादेव्या सह रमते । राजा तच्छ्रुत्वा उत्थाय प्राह । तरंगवति किं जागर्षीति । साच निद्राव्याकुलेव न शृणोति । राजा च तस्या अपध्वनिं श्रुत्वा व्यचिंतयत् । इयं तरंगवती निद्रायां स्वप्रवशं गता वासनावशाद्देव्या दुश्चरितं प्राह । स च स्त्रीवेषेणांतःपुरमागच्छतीत्येतदपि संभाव्यते । को नाम स्त्रीचरितं वेदेति । ततश्चेत्थं विचार्य राजा परेद्युः प्रातरात्मनि कृत्रिमज्वरं विधाय शयानः कालिदासं दासीमुखेन आनाय्य तदागमनानंतरं तयैव लीलादेवीं चानाय्य देवीं प्रत्यवदत् ।

प्रिये इदानीमेव मया पथ्यं भोक्तव्यमिति । इत्युक्ते सापि तथैवेति पथ्यं गृहीत्वा राज्ञे रजतपात्रे दत्त्वा तत्र मुद्गदाळीं प्रत्यवेषयत् । ततो राजापि तयोरभिप्रायं जिज्ञासमानः श्लोकार्धं प्राह ॥

इससे अनंतर विद्वानोंके संगमें वैररूप अग्नि प्रकट होता भया । फिर कितेक बुद्धिमानोंसे सलाह करके सबही विद्वानोंने भोजको पान बीडा देनेवाली दासी धन सुवर्ण आदिको करके मानी । वे सब तिस दासीके प्रति उपाय बताते भये । हे सुभगे ! हमारी कीर्तिको यह कालिदास खंडित करता है । हमारे विषें कोईभी इस कालिदासकी समान कलाधारी नहीं है । हे वत्से (हे पुत्रि) ! जैसे राजा इसको देशान्तरमें निकाल देवे वही तैंने करना चाहिये । दासी बोली । तुमसे हार लेके मुझसे तुम्हारा कार्य होवेगा, इसलिये पहले मुझको हार देना चाहिये (मोतियोंके हारकी भेट देनी चाहिये) । इससे अनंतर वह पानबीडी देनेवाली दासी तिनसे दिये हुए हारको लेके चिंतवन करती भई । तैसेही है । पंडितोंकरके क्या असाध्य है (क्या नहीं बन सकता है) । फिर कितेक दिन बीत गये तब दैवयोगसे राजा अकेला सो रहा था तब यह दासी इस राजाके पैर दाबके सेवा करके तहांही कपटसे नेत्र मींचके सो गई । पैर पसारनेसे राजाको कुछ जागते हुएको जानके बोली हे सखी मदनमालिनि ! वह दुरात्मा कालिदास दासीका वेष करके जिनाना महलमें जाके लीला-

देवी (रानी) के संग रमण करता है। राजा इस बातको सुनके बैठा होके बोला। हे तरंगवति ! क्या जागती हो। फिर वह नींदमें व्याकुल हुईकी तरह नहीं सुनती है। राजा तिसकी बेंडनेकी आवाजको सुनके चिंतवन करता भया। यह तरंगवती निद्राके वशमें हो रही है वासनाके वशसे रानीके दुश्चरित्रको कहती है। वह स्त्रीका वेश करके जिनाने महलमें आता है। यहभी मालूम होता है। कौन है कि जो स्त्रियोंके चरित्रको जाने। फिर इस प्रकार विचारके राजा दूसरे दिन अपनेमें छलका ज्वर बनाके सोता भया, फिर कालिदास कविको दासीके द्वारा बुलवाके तिसी दासीसे लीलादेवीको बुलाके लीलादेवीको बोला। हे प्रिये ! अबही मैंने पथ्य-भोजन लेना चाहिये, ऐसे कहा ! तब वहभी अंगीकार करके पथ्यको ग्रहण करके चांदीके पात्रमें राजाके वास्ते तहां मूगों-की दाल परोसती भई। फिर राजाभी तिनका अभिप्राय जान-नेकी इच्छा करता हुआ आधे श्लोकको बोलता भया॥

मुद्गदाली गदव्याली कवींद्र वितुषा कथम् ॥

हे कवीन्द्र! गदव्याली अर्थात् रोगको नष्ट करनेमें सर्पिणी-रूप मूंगोंकी दाल वितुषा (चोइयोंसे रहित) कैसे हो गई है॥

इति। ततः कालिदासः देव्यां समीपवर्तिन्यामपि उत्तरार्धं प्राह॥

ऐसे कहा। फिर रानीके समीपमें होनेपरभी कालिदास कवि उत्तरार्द्ध श्लोक कहता भया॥

अंधोवल्लभसंयोगे जाता विगतकंचुकी॥ १४१॥

भोजन (भात) पतिके संयोगमें यह (दाल की) आंगी खोलती भई ॥ १४१ ॥

देवी तच्छ्रुत्वा परिज्ञातार्थस्वरूपा सरस्वतीव तदर्थं विदित्वा स्मेरमुखी मनागिव प्रबभूव । राजाप्येतद्दृष्ट्वा विचारयामास । इयं पुरा कालिदास स्निह्यति अनेन एतस्यां समीपवर्तिन्यामपि इत्थमभ्यधायि । इयं च स्मेरमुखी बभूव । स्त्रीणां चरित्रं को वेद ॥

फिर रानी इस पदको सुन परिज्ञातार्थस्वरूपा सरस्वतीकी तरह तिस अर्थको जानके कुछ मुसकाती हुई स्थित रही । राजाभी इस बातको देखके विचारता भया । यह पहले कालिदासमे स्नेह करती है इसीवास्ते इस कविने इस रानीके समीप होनेपरभी ऐसा कहा और यहभी मंदमुसकानमुखवाली होती भई । स्त्रियोंके चरित्रको कौन जानता है ॥

अश्वप्लुतं वासवगर्जितं च ।
स्त्रीणां च चित्तं पुरुषस्य भाग्यम् ॥
अवर्षणं चाप्यतिवर्षणं च ।
देवो न जानाति कुतो मनुष्यः ॥ १४२ ॥

घोडेकी कदम, इंद्रका गर्जना, स्त्रियोंका चित्त, पुरुषका भाग्य, नहीं वर्षना, ज्यादे वर्षना इनको देवताभी नहीं जानता है फिर मनुष्य क्या जान सके ॥ १४२ ॥

किं त्वयं ब्राह्मणः दारुणापराधित्वेन हंतव्य इति । विशेषेण सरस्वत्याः पुरुषावतार इति विचार्य कालि-

दासं प्राह । कवे सर्वथा अस्मद्देशे न स्थातव्यं किं बहुनोक्तेन प्रतिवाक्यं किमपि न वक्तव्यम् । ततः कालिदासोऽपि वेगेनोत्थाय वेश्यागृहमेत्य तां प्रत्याह । प्रिये अनुज्ञां देहि मयि भोजः कुपितः स्वदेशो न स्थातव्यमित्युवाच । अहह ॥

किंतु दारुण अपराधी होनेसे यह ब्राह्मण मारने योग्य है । फिर विशेषकरके यह सरस्वतीका अवतार है (रानी-के) इस वचनको विचारके कालिदासको कहता भया । हे कवे ! सर्वथा हमारे देशमें नहीं ठहरना, बहुत कहनेसे क्या है बदलेका जुबाब कुछभी नहीं कहना । फिर कालि-दासभी शीघ्रही खडा हो वेश्याके घरमें प्राप्त हो तिसको कह-ता भया । हे प्रिये ! अनुज्ञा दो (जानेकी इजाजत दो क्योंकि) मेरेपर कुपित हुआ भोज अपने देशमें नहीं ठहरना चाहिये ऐसे कहता भया । अहह ! बडा खेद है ॥

अघटितघटितानि घटयति घटितघटितानि दुर्घटीकुरुते ॥ विधिरेव तानि घटयति यानि पुमान्नैव चिंतयति ॥ १४३ ॥

विधाता विना होनी बातोंको होनहार कर देता है और होनहार बातोंको अनहोनी कर देता है ! और जिनको पुरुष कभी चिंतवन नहीं करता है उनहीको कर देता है ॥ १४३ ॥

किं च किमपि विद्वद्द्वंद्वचेष्टितमेवेति प्रतिभाति । तथाहि ॥

किंच (लेकिन्) कुछ विद्वानोंके समूहकाही यह सब चेष्टित (फरेब) दीखता है ऐसाही है ॥

बहूनामल्पसाराणां समवायो दुरत्ययः ॥
तृणैर्विधीयते रज्जुर्बध्यंते तेन दंतिनः ॥ १४४ ॥

स्वल्पसारवालेभी बहुतोंका इकट्ठा होना बड़ा मजबूत होता है । तृणोंकरके रस्सी बनाई जाती है फिर तिसही रस्सीसे हाथी बांधे जाते हैं ॥ १४४ ॥

ततो विलासवती नाम वेश्या तं प्राह ॥

फिर विलासवती नामवाली वेश्या तिस कविको बोली ॥

तदेवास्य परं मित्रं यत्र संक्रामति द्वयम् ॥
दृष्टे सुखं च दुःखं च प्रतिच्छायेव दर्पणे ॥१४५॥

इस प्राणीका वही परम मित्र है कि जिसके देखनेमात्रसे सुखदुःख दोनोंही ऐसे दीखते हैं कि, जैसे दर्पणमें मुखका प्रतिबिंब दीखता है (भाव यह है कि जो सुखदुःखका साथी हो वही परम मित्र है) ॥ १४५ ॥

दयित मयि विद्यमानायां किं ते राज्ञा किं वा राजदत्तेन वित्तेन कार्यम् । सुखेन निःशंकं तिष्ठ मद्गृहांतःकुहर इति । ततः कालिदासः तत्रैव वसन् कतिपयदिनानि गमयामास। ततः कालिदासे गृहान्निर्गते राजानं लीलादेवी प्राह । देव कालिदासकविना साकं नितांतं निबिडतमा मैत्री तदिदानीमनुचितं कस्मात्कृतं यस्य देशेऽप्यवस्थानं निषिद्धम् ॥

हे प्रिय ! जबतक मैं विद्यमान हूं राजाकरके तुझे क्या करना है और राजासे दिये हुए धनकरके क्या है । सुख-पूर्वक मेरे घरके भौंहरेमें शंकारहित होके ठहर । तिससे अनंतर वह कालिदास तहांही वसता हुआ कितेक दिनोंको व्यतीत करता भया । फिर कालिदास घरसे निकल गया तब लीलादेवी कहती भई । हे देव ! कालिदास कविके संग आपकी बहुत गाढी मित्रता थी सो अब किस कारणसे बिगाड दी कि जो कालिदास अब देशसेभी बाहिर निकाल दिया ॥

इक्षोरग्रात्क्रमशः पर्वणि पर्वणि यथा रसविशेषः ॥
तद्वत्सज्जनमैत्री विपरीतानां च विपरीता ॥ १४६ ॥

ईखके गंडेके अग्रभागके क्रमसे पोरी २ में जैसे ज्यादे रस होता है इसी तरह सज्जनपुरुषोंकी मित्रता बढती रहती है और विपरीत (दुष्ट) आदमियोंकी प्रीति विपरीत अर्थात् घटती जाती है ॥ १४६ ॥

शोकारातिपरित्राणं प्रीतिविस्रंभभाजनम् ॥
केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ॥ १४७ ॥

शोकरूपी शत्रुसे रक्षा करनेवाला, प्रीति और विश्वासका पात्र ऐसा मित्र यह दो अक्षरका रत्न किससे रचा गया है १४७

राजाप्येतल्लीलादेवीवचनमाकर्ण्य प्राह । देवि केनापि ममेत्यभिधायि तत्कालिदासो दासीवेषेण अंतःपुरमासाद्य देव्या सह रमत इति । मया चैतद्व्यापारजिज्ञासया कपटज्वरेणायं भवती च वीक्षितौ । ततः

समीपवर्तिन्यामपि त्वय्युत्तरार्द्धमित्थं प्राह । तच्चाकर्ण्य त्वयापि कृतो हासः । ततश्च सर्वमेतद्दृष्ट्वा ब्राह्मणहननभीरुणा मया देशान्निःसारितः । त्वां च न दाक्षिण्येन हन्मीति । ततः हासपरा देवी चमत्कृता प्राह । निःशंकं देव अहमेव धन्या यस्यास्त्वं पतिरीदृशः । यस्त्वया भुक्तशीलायाः मम मनः कथमन्यत्र गच्छति यतः सर्वकामिनीभिरपि कांतोपभोगे स्मर्त्तव्योसि । अहह देव त्वं यदि मां सतीमसतीं वा अकृत्वा गमिष्यसि तर्ह्यहं सर्वथा मरिष्य इति । ततो राजापि प्रिये सत्यं वदसीति । ततः स नृपतिः पुरुषैरहिमानयामास तप्तं लोहगोलकं कारयामास धनुश्च सज्जं चक्रे । ततो देवी स्नाता निजपातिव्रत्यानलेन देदीप्यमाना सुकुमारगात्री सूर्यमवलोक्य प्राह । जगच्चक्षुस्त्वं सर्वसाक्षी सर्वं वेत्सि ॥

राजाभी लीलादेवीके इस वचनको सुनके बोला । हे देवि ! किसीने मेरे आगे यह कहा कि वह कालिदास दासीका बेष करके जिनाने महलोंमें प्राप्त होके रानीके संगमें रमण करता है ऐसा । मैंने इस बातकी सचावट जाननेके वास्ते ज्वरका छल करके यह और तुम दोनों देख लिये । फिर समीपमें तेरे स्थित होनेपरभी इस प्रकार उत्तरार्द्ध श्लोकको पढता भया । तिस पदको सुनके तैंनेभी हास्य किया । फिर इस संपूर्ण वृत्तांतको देखके ब्राह्मणके मारनेका

भय मानके वह कवि मैंने देशसे निकाल दिया। और तेरी चतुरा बुद्धिमत्ता बहुत है इससे तुझको नहीं मारता हूं। इससे अनंतर हँसती हुई रानी विमकके बोलती भई। हे देव! मैंही निःशंक हुई धन्य हूं कि जिसके तुम ऐसे पति हो। जो कि तुम्हारे करके मेरा स्वभाव वर्त्ता हुआ भोगा हुआ है तोभी मेरा मन अन्य जगह कैसे जाता है क्योंकि हे कांत! तुम सबही स्त्रियों करके उपभोगसमयमें याद किये जाते हो। अहो! बड़ा खेद है कि जो तुम मुझको सती पतिव्रता बनाये विना अथवा असती (जार) बनाये विना जावोगे तो मैं सर्वथा मर जाऊंगी। फिर राजाभी कहने लगा हे प्रिये! सत्य कहती हो। फिर वह राजा पुरुषोंकरके सर्पको मँगवाता भया और लोहेके गोलेको तपाता भया, धनुषको चढाके बाणयुक्त करता भया। फिर वह देवी रानी स्नान करके अपने पतिव्रतापनेके धर्मरूप अग्नि करके प्रदीप्त हुई सुकुमार अंगवाली सूर्यको देखके बोली। हे जगत्के चक्षु! तुम सबके साक्षी हो सब कुछ जानते हो॥

जाग्रति स्वप्नकाले च सुषुप्तौ यदि मे पतिः॥
भोज एव परं नान्यो मच्चिते भावितोपि न॥१४८॥

जाग्रदवस्थामें और सुपनामें तथा अत्यंत नींद आते समय जो मेरा परम पति भोजही है दूसरा कोई मेरे चित्तमेंभी नहीं आता है (तो तुम मेरे नियमको सच्चा दिखाओ)॥ १४८॥

इत्युक्त्वा ततो दिव्यत्रयं चक्रे । ततः शुद्धाया-

मन्तःपुरे लीलावत्यां लज्जानतशिराः नृपतिः पश्चात्तापात्पुरो देवि क्षमस्व पापिष्ठं मां किं वदामीति कथयामास । राजा च तदाप्रभृति न निद्राति न च भुंक्ते न केनचिद्वक्ति । केवलमुद्विग्नमनाः स्थित्वा दिवानिशं प्रविलपति । किं नाम मम लज्जा किं नाम दाक्षिण्यं क्व गांभीर्यं हाहा कवे कविकोटिमुकुटमणे कालिदास हा मम प्राणसम हा मूर्खेण किमश्राव्यं श्रावितोसि अवाच्यमुक्तोसीति प्रसुप्त इव ग्रहग्रस्त इव मायाविध्वस्त इव पपात । ततः प्रियाकरकमलसिक्तजलसंजातसंज्ञः कथमपि तामेव प्रियां वीक्ष्य स्वात्मनिंदापरः परमतिष्ठत् । ततो निशा निशानाथहीनेव दिनकरहीनेव दिनश्रीर्वियोगिनीव योषित् शक्ररहितेव सुधर्मा न भाति भोजभूपालसभा रहिता कालिदासेन । तदाप्रभृति न कस्यचिन्मुखे काव्यं न कोपि विनोदसुंदरं वचो वक्ति । ततो गतेषु केषुचिद्दिनेषु कदाचिद्राकापूर्णेंदुमंडलं पश्यन् पुरश्च लीलादेवीमुखेंदुं वीक्ष्य प्राह ॥

इस प्रकार कहके फिर दिव्यभय करती भई अर्थात् सर्पसे नहीं डसी गई और अग्निसे दग्ध नहीं भई, बाण नहीं स्पर्श भया । ये पूर्वोक्त तीनों बातें दिव्य हो गईं । फिर महलके भीतर लीलावती शुद्ध हो चुकी तब लज्जा (शरम) से नीचेको मुख किये हुआ राजा पिछतावा करके पहले कहता भया कि, हे देवि ! मेरी पापिष्ठकी क्षमा करो मैं क्या कहूं ?

तबसे लेके राजाको नींद नहीं आई, किसीसे कुछ कहता नहीं है। केवल उदास मनवाला होके रात दिन विलाप करता है। क्या मेरी लज्जा है, क्या मेरी चतुराई है, क्या मेरा गंभीरपना (भरखमपना) है, हा हा हे कवे ! हे कविकोटियोंके मुकुटके मणिरूप ! हे कालिदास ! हा मेरे प्राणकी समान ! हा ! मूर्खने (मैंने) क्या नहीं सुनाने लायक तुमको सुनाया, नहीं कहने लायक कहा; इस प्रकार बैंडनेकी तरह ग्रहसे ग्रस्त हुएकी तरह छलसे विध्वस्त हुएकी तरह परता भया। फिर रानीके हस्तकमलसे छिडके हुए जलसे चेत हुआ, तब किसी प्रकारसे तिस प्रियाको देखके चुपका बैठा हो गया। फिर चंद्रमासे हीन हुई रात्रीकी तरह और सूर्यसे हीन हुए दिनकी शोभाकी तरह वियोगिनी हुई स्त्रीकी तरह और इंद्रसे रहित हुई सुधर्मासभाकी तरह वह भोजराजाकी सभा कालिदाससे रहित हुई शोभित नहीं होती भई। तबसे आगे किसीके मुखमें काव्यरचना नहीं रही, कोईभी विनोद सुंदर वचन नहीं करता है। फिर कितेक दिन बीत चुके, तब पूर्णमासीकी रात्रीमें पूर्णमंडल चंद्रमाको देखता हुआ राजा लीलादेवीके मुखरूप चंद्रमाको देखके कहता भया ॥

तुलणं अणु अणुसरइ ग्लौसो मुहचंदस्स खुएदाये ॥[१]

ऐसी आधे श्लोककी कविता करी। इसका अर्थ यह है कि, यह चंद्रमा इस रानीके मुखरूपी चंद्रमाकी बराबरी करता है॥

---

१ छाया—तुलनामन्वनुसरति ग्लौः स मुखचंद्रस्य खल्वेतस्याः ।

कुत्र च पूर्णेपि चंद्रमसि नेत्रविलासाः कदा वाचो विलसितम् । प्रातश्चोत्थितः प्रातर्विधीन्विधाय सभां प्राप्य राजा विद्वद्वरान्प्राह । अहो कवयः इयं समस्या पूर्यताम् । ततः पठति । 'तुलणं अणु अणुसरइ ग्लौसो मुहचंदस्स खुएदाये ॥' पुनराह । इयं चेत्समस्या न पूर्यते भवद्भिः मद्देशे न स्थातव्यमिति ततो भीतास्ते कवयः स्वानि गृहाणि जग्मुः चिरं विचारितेप्यर्थे कस्यापि नार्थसंगतिः स्फुरति । ततः सर्वैर्मिलित्वा बाणः प्रेषितः । ततः सभां प्राप्याह राजानम् । देव सर्वैर्विद्वद्भिरहं प्रेषितः । अष्टवासरानवधिमभिधेहि । नवमेह्नि पूरयिष्यांति ते । न चेद्देशान्निर्गच्छंति ते । राजा अस्त्वित्याह । ततो बाणः तेषां विज्ञाप्य राजसंदेशं स्वगृहमगात् । ततोष्टौ दिवसाः अतीताः अष्टमदिनरात्रौ मिलितेषु बाणः प्राह । अहो तारुण्यमदेन राजसन्मानमदेन किंचिद्विद्यामदेन कालिदासो निःसारितोऽभवत् । समे भवंतः सर्व एव कवयः । विषमे स्थाने तु स एक एव कविः । तं निःसार्य इदानीं किं नाम महत्त्वमासीत् । स्थिते तस्मिन् कथमियमवस्थास्माकं भवेत् । तन्निःसारे या या बुद्धिः कृता सा भवद्भिरेव अनुभूयते ॥

ऐसे कभी पूर्णचंद्रमा विषें नेत्रोंका विलास भया फिर कभी (कालान्तरमें) वाणीका विलास भया । (यह कविता

बनाई)। फिर राजा प्रातःकाल खडा हो प्रातःकालका नित्यकर्म कर सभामें प्राप्त हो ब्राह्मणोंके समूहोंको कहता भया। अहो कविजनो! यह समस्या पूर्ण करनी चाहिये। फिर राजा पढता है। 'तुलणं अणु अणुसरइ ग्लौसो मुहचंदस्स खुएदाये' फिर बोला कि जो यह समस्या तुमसे पूर्ण नहीं की जावे तो मेरे देशमें मत ठहरो। फिर भयभीत हुए वे कवि अपने घरको जाते भये। बहुत कालतक अर्थ विचारनेमेंभी किसीकीभी अर्थमें संगति नहीं स्फुरती है। फिर सबोंने मिलके बाणपंडित भेजा। वह सभामें प्राप्त होके राजाको कहता भया। हे देव! सबोंने मिलके मैं भेजा हूं। आठ दिनकी अवधि (मियाद) दो। नववें दिन वे समस्या पूर्ण करेंगे। नहीं तो तुम्हारे देशसे निकल जावेंगे। राजाने यह बात अंगीकार कर ली। फिर बाणकवि राजाके संदेशको तिन कवियोंको सुनाके अपने घर आता भया। फिर आठ दिन बीत गये। आठवें दिनकी रात्रीमें सब मिले तब बाण कहता भया। अहो! जवानीके मदसे, राजसन्मानके मदसे, कुछ विद्याके मदसे कालिदास निकाल दिया। साधारण बातमें तुम सबही कवि हो और विषम स्थानमें तो वह एकही कवि है। तिसको निकालके अब क्या बडप्पन भया है। तिसके रहनेपर हमारी ऐसी अवस्था क्यों होती? उसके निकालनेमें जो २ बुद्धि करी थी उसका स्वाद तुमकोही मिला है॥

सामान्यविप्रद्वेषे च कुलनाशो भवेत्किल ॥
उमारूपस्य विद्वेषो नाशः कविकुलस्य हि ॥ १४९ ॥

साधारण ब्राह्मणोंसे वैर करनेमेंभी निश्चयही कुलका नाश हो जाता है । क्योंकि कविलोग पार्वतीजीके रूपका द्वेष (निंदा विसराहना) करेंगे तो उन कविकुलोंका नाशही होगा अर्थात् प्रशंसा करने लायकसे ईर्षा द्वेष करनेवालोंका नाशही होता है ॥ १४९ ॥

ततः सर्वे गाढं कलहायंते स्म । मयूरादयश्च ततस्ते सर्वान् कलहान्निवार्य सद्यः प्राहुः । अद्यैवावधिः पूर्णः कालिदासमंतरेण न कस्यचित्सामर्थ्यमस्ति समस्यापूरणे ॥

तिसके अनंतर संपूर्ण कवि अतिकलह करते भये । पीछे मयूरसे आदि लेकर सब कवि संपूर्ण जनोंको कलहसे निवारण करके शीघ्र बोले कि, आजही अवधि पूर्ण हो चुकी (क्योंकि) कालिदासके विना समस्यापूरण करनेमें किसीकी सामर्थ्य नहीं ॥

संग्रामेषु भटेंद्राणां कवीनां कविमंडले ॥
दीप्तिर्वा दीप्तिहानिर्वा मुहूर्त्तेनैव जायते ॥ १५० ॥

योद्धाओंकी युद्धभूमिमें और कवियोंकी कविमंडलमें जीत अथवा हार दोही घडीमें दीख पडती है ॥ १५० ॥

यदि रोचते ततोऽद्यैव मध्यरात्रे प्रमुदितचंद्रमसि निगूढमेव गच्छामः संपत्तिसंभारमादाय । यदि न

गम्यते श्वो राजसेवका अस्मान्बलान्निःसारयंति तदा देहमात्रेणैवास्माभिर्गंतव्यम् । तदाद्य मध्यरात्रे गमिष्याम इति सर्वे निश्चित्य गृहमागत्य बलीवर्दव्यूढेषु शकटेषु संपद्धारमारोप्य रात्रावेव निष्क्रांताः । ततः कालिदासः तत्रैव रात्रौ विलासवतीसदनोद्याने वसन् पथि गच्छतां तेषां गिरं श्रुत्वा वेश्याचेटीं प्रेषितवान् । प्रिये पश्य क एते गच्छंति ब्राह्मणा इव । ततः सा समेत्य सर्वानपश्यत् । उपेत्य च कालिदासं प्राह ॥

जो तुम्हारी संमति होवे तो आजही अर्धरात्रपर चंद्रोदय हुए (अपना) संपूर्ण असबाब लेकर चुपकेसेही चलें । और जो नहीं चलोगे (तो) कल राजाके सिपाही हमारेको और बालकोंको निकास देंगे, तब तो हमारेको शरीरमात्रही करके चलना पडेगा अर्थात् असबाब नहीं लेने देंगे । इसवास्त आजही अर्धरात्रपर जायेंगे । ऐसे संपूर्ण निश्चय करके अपने २ घरोंमें आकर, बैल जुडे हुए छकडोंपर (अपना अपना) असबाब लादकर रात्रिकोही निकल गए । तिसके अनंतर कवि कालिदास रात्रिमें वही विलासवतीके बगीचामें छुपा हुआ रास्ते चलते हुए तिन कवियोंकी वाणीको सुनकर तहां वेश्याकी दासीको भेजना भया कि, हे प्रिये ! देख ये कौन जाते हैं, ब्राह्मणोंकी तरह प्रतीत होते हैं पीछे वोह वहां जाकर संपूर्णोंको देखती भई और वापस आकर कालिदासको यह कहती भई ॥

एकेन राजहंसेन या शोभा सरसोऽभवत् ॥
न सा बकसहस्रेण परितस्तीरवासिना ॥ १५१ ॥

एक राजहंसकरके जो सरोवरकी शोभा होती है, सो चारों तरफ तीरपर वसनेवाले हजार बुगलोंकरके नहीं हो सकती ॥ १५१ ॥

सर्वे च बाणमयूरप्रमुखाः पलायंते नात्र संशय इति । कालिदासः प्रिये वेगेन वासांसि भवनादानय यथा पलायमानान् विप्रान् रक्षामि ॥

संपूर्ण बाण मयूरसे आदि लेकर कवि भागे जाते हैं इसमें संदेह नहीं । (ऐसे सुन) कालिदास कहने लगे कि हे प्रिये ! जल्दी स्थानसे वस्त्र लावो, जिसवास्ते भागते हुए ब्राह्मणोंकी रक्षा करूं ॥

किं पौरुषं रक्षति यो न वार्तान् ।
किं वा धनं नार्थिजनाय यत्स्यात् ॥
सा किं क्रिया या न हितानुबद्धा ।
किं जीवितं साधुविरोधि यद्वै ॥ १५२ ॥

(क्योंकि) जो पीडितोंकी रक्षा न करे उसका कुछ बल नहीं । और जो अभ्यागत जनोंको न दिया वह कुछ धन नहीं । और जो अपना हित करनेवाली न हुई वह कुछ क्रिया नहीं । और जो साधुजनोंसे विरोध रखे वह कुछ जीवना नहीं ॥ १५२ ॥

ततः स कालिदासश्चारवेषं विधाय सत्वमुद्वहन्

क्रोशार्धमुत्तरं गत्वा तेषामभिमुखमागत्य सर्वान्निरूप्य जयेत्याशीर्वचनमुदीर्य पप्रच्छ चारणभाषया । अहो विद्यावारिधयो भोजसभायां संप्राप्तमहत्त्वातिशयाः बृहस्पतय इव संभूय कुत्र जिगमिषवो भवंतः । कच्चित्कुशलं वो राजा च कुशली । अस्माभिः काशीदेशादागम्यते भोजदर्शनाय वित्तस्पृहया । ततः परिहासं कुर्वंतः सर्वे निष्क्रांताः । ततस्तेषु कश्चित्तद्गिरमाकर्ण्य तं च चारणं मन्यमानः कुतूहलेन विपश्चित्प्राह । अहो चारण शृणु त्वया पश्चादपि श्रोष्यत एव अतो मया अद्यैवोच्यते । राज्ञा किलेभ्यो विद्वद्भ्यः पूरणाय समस्योक्ता तत्पूरणाशक्ताः कुपिता राज्ञा देशांतरे कचिज्जिगमिषव एते निश्चक्रमुः । चारणः राज्ञा का वा समस्या प्रोक्ता । ततः पठति स विपश्चित् । 'तुलणं अणु अणुसरइ ग्लौसो मुहचंदस्स खुएदाये ॥' चारणः एतत्साध्वेव गूढार्थं एतत्पूर्णेंदुमंडलं वीक्ष्य राज्ञापाठि । एतस्योत्तरार्धमिदं भवितुमर्हति ॥

तिसके अनंतर कालिदास यह विचार कर और गुप्त गस्त करनेवाला बनकर खड्ग लिये आध कोश अगाडी जाय और तिन संपूर्णोंके सन्मुख आकर संपूर्णोंको खबर कर और जय ऐसे आशीर्वचन कहकर तिन्होंको चारणभाषासे पूंछता भया कि, अहो विद्याके समुद्ररूप राजा भोजकी सभामें बृहस्पतिके तरह बहुत महत्त्व पानेवाले तुम संपूर्ण

इकट्ठे होकर कहां कहां जानेकी इच्छा करते हो । कहो तुम्हारे कुशल है और राजाभी कुशलवाला है ऐसे कह फिर (कालिदास कहने लगा कि) धनकी वांछा करके राजा भोजके दर्शनके वास्ते मैं काशीसे आया हूं । पश्चात् सब कवि ठट्ठा करते हुए निकल गये । तिसके अनंतर तिन्होंमें कोई विद्वान् तिसकी वाणी सुन और तिसको चारण मानता हुआ आश्चर्यसे कहने लगा कि, हे चारण! सुनो, तुम पीछेभी सुनोहीगे इसवास्ते मैं अभी कहता हूं । निश्चय यह वार्ता है कि राजाने इन विद्वानोंको पूरण करनेके वास्ते समस्या कही सो तिसका पूरण करनेमें असमर्थ हुए और राजासे क्रोधकर निकाले हुए कहीं देशांतरमें जानेकी इच्छा करते हुए ये निकल आये । (ऐसे सुन) चारणरूप कालिदासने कहा कि राजाने कौन समस्या तुम्हारेसे कही । ऐसे सुन वह विद्वान् कहने लगा । 'तुलणं अणु अणुसरइ ग्लौसो मुहचंदस्स खुएदाये' ॥ चारण बोला कि यह ठीकही है । चंद्रमाका पूर्णमंडल देखकर यह गूढ अर्थवाली समस्या राजाने कही है । सो इसका उत्तरार्थ यह होनेके योग्य है ॥

अणुइदि संणयदि कइ अणुकिदि तस्स पडिपदि चंदस्स ॥

सर्वे श्रुत्वा चमत्कृताः । ततश्चारणः सर्वान्प्रणिपत्य निर्ययौ । ततः सर्वे विचारयंति स्म अहो इयं साक्षात्सरस्वती पुंरूपेण सर्वेषां अस्माकं परित्राणायागता

नायं भवितुमर्हति मनुष्यः । अद्यापि किमपि केनापि न ज्ञायते । ततः शीघ्रमेव गृहमासाद्य शकटेभ्यो भारमुत्तार्य प्रातः सर्वैरपि राजभवनं गंतव्यं न चेच्चारण एव निवेदयिष्यति । ततो झटिति गच्छाम इति योजयित्वा तथा चक्रुः । ततो राजसभां गत्वा राजानमालोक्य स्वस्तीत्युक्त्वा विविशुः । ततो बाणः प्राह । देव सर्वज्ञेन यत्त्वया पठ्यते तदीश्वर एव वेद । केमी वराका उदरंभरयः द्विजाः तथाप्युच्यते ॥

' अणुइदि बंणयदि कह अणुकिदि तस्स पडिपदि चंदस्स' ऐसे संपूर्ण सुन विस्मित हो गये (चौंक उठे) पश्चात् चारण संपूर्णोंको नमस्कार कर जाता भया । पीछे संपूर्ण ऐसे विचारते भये कि अहो ! यह पुरुषरूप करके साक्षात् सरस्वती थी क्या हमारी संपूर्णोंकी रक्षाके वास्ते आई थी यह मनुष्य होनेके योग्य नहीं । अवही कुछ किसीने नहीं जान लिया । तिसके अनंतर शीघ्रही घर आकर और छकडोंसे भार उतारकर (संमति कर) कहने लगे कि प्रातःकालमेंही संपूर्णोंको राजभवनमें चलना, नहीं तो यह पद चारणही कह जावेगा । इसवास्ते जल्दी चलेंगे ऐसे सलाह कर तैसेही करते भये । तिसके अनंतर राजसभामें जाकर और राजाको देखकर ' स्वस्ति ' ऐसे आशीर्वाद देकर स्थित होते भये । पीछे बाण कवि कहने लगा कि, हे देव ! जो तुम सर्वज्ञने कहा है तिसको तो ईश्वरही जान सकता है । ये तुच्छ पेट भरनेवाले ब्राह्मण कैसे जानेंगे, परंतु फिरभी कहा जाता है ॥

तुलणं अणु अणुसरइ ग्लौसो मुहचंदस्स खु एदाये ॥ अणुइदि बंणयदि कह अणुकिदि तस्स पडिपदि चंदस्स ॥ १५३ ॥

(इसका अर्थ कहते हैं) इस रानीके मुखरूप चंद्रमाकी निश्चय यह चंद्रमा बराबरी करने लायक है। (यह इतना अर्थ राजाके पूर्वार्द्धका है। अब कालिदासका उत्तरार्द्ध कहते हैं) तहां ऐसे वर्णन किया है कि तिस प्रतिपदाके चंद्रमाकी और तिस मुखरूप चंद्रमाकी बराबरी कैसे हो सकती है अर्थात् मुख तो सर्वदा पूर्णचंद्रमाकी तुल्य है और प्रतिपदाको यह चंद्रमा एकही कलावाला रह जाता है फिर कैसे बराबरी कर सके ॥ १५३ ॥

राजा यथाव्यवसितस्याभिप्रायं विदित्वा सर्वथा कालिदासो दिवसप्राप्यस्थाने निवसति । उपायैश्च सर्वं साध्यम् । ततो बाणाय रुक्माणां पंचदशलक्षाणि प्रादात् । संतोषमिषेणैव विद्वद्वृंदं स्वं स्वं सदनं प्रति प्रेषितम् । गते च विद्वन्मंडले शनैर्द्वारपालायादिष्टं राज्ञा । यदि केचित् द्विजन्मान आयास्यति तदा गृहमध्यमानेतव्याः । ततः सर्वमपि वित्तमादाय स्वगृहं गते बाणे केचित्पंडिता आहुः । अहो बाणेनानुचितं व्यधायि । यदसावपि अस्माभिः सह नगरान्नि-

१ छाया–तुलनामन्वनुसराति ग्लौः सः मुखचंद्रस्य खल्वेतस्याः। अन्विति वर्ण्यते कथमनुकृतिस्तस्य प्रतिपदि चंद्रस्य ॥

ष्क्रांतोपि सर्वमेव धन गृहीतवान् । सर्वथा भोजस्य बाणस्य रूपं ज्ञापयिष्यामः । यथा कोपि नान्यायं विधत्ते विद्वत्सु । ततस्ते राजानमासाद्य ददृशुः । राजा तान्प्राह एतत्स्वरूपं ज्ञातमेव भवद्भिर्यथार्थतया वाच्यम् । ततस्तैः सर्वमेव निवेदितम् । ततः राजा विचारितवान् । सर्वथा कालिदासश्चारणवेषेण मद्भयान्मदीयनगरमध्यास्ते । ततश्चांगरक्षकानादिदेश । अहो पलाय्यंतां तुरंगाः । ततः क्रीडोद्यानप्रयाणे पटहध्वनिरभवत् । अहो इदानीं राजा देवपूजाव्यग्र इति शुश्रुमः । पुनरिदानीं क्रीडोद्यानं गमिष्यतीति व्याकुलाः सर्वे भटाः संभूय पश्चाद्यांति । ततो राजा तैर्विद्वद्भिः सह अश्वमारुह्य रात्रौ यत्र चारणप्रसंगः समजनि तत्प्रदेशं प्राप्तः । ततो राजा चरतां चौराणां पदज्ञाननिपुणानाहूय प्राह । अनेन वर्त्मना यः कोपि रात्रौ निर्गतः तस्य पदानि अद्यापि दृश्यंते तानि पश्यंत्विति । ततो राजा प्रतिपंडितं लक्षं दत्त्वा तान्प्रेषयित्वा च स्वभवनमगात् । ते च पदज्ञा राजाज्ञया सर्वतश्चरंतोपि तमनवेक्षमाणा विमूढा इवासन् । ततश्च लंबमाने सवितरि कामपि दासीमेकं पदत्राणं त्रुटितमादाय चर्मकारवेश्म गच्छंतीं दृष्ट्वा तुष्टा इवासन् । ततस्तत् पदत्राणं तया चर्मकारकरे न्यस्तं वीक्ष्य तैश्च तस्य करान्मिषेणादाय रेणुपू-

र्णे पथि मुक्त्वा तदेव पदं तस्येति ज्ञात्वा तां च दासीं क्रमेण वेश्याभवनं विशंतीं वीक्ष्य तस्या मंदिरं परितो वेष्टयामासुः । ततश्च तैः क्षणेन भोजश्रवणपथविषयं अभिज्ञानवार्त्ता प्रापिता । ततो राजा सपौरः सामात्यः पद्भ्यामेव विलासवतीभवनमगात् । ततस्तच्छ्रुत्वा विलासवतीं प्राह कालिदासः । प्रिये मत्कृते किं कष्टं ते पश्य । विलासवती प्राह सुकवे ॥

ऐसे सुन निश्चयके अभिप्रायको संपूर्ण प्रकारसे जानकर राजाने विचार किया कि एक दिनमें प्राप्त हो ऐसे स्थानमें कालिदास वसता है । उपायोंकरके संपूर्ण सिद्ध होता है । तिसके अनंतर बाणके वास्ते पंदरह लाख रुपैया राजा भोज देता भया । संतोषमिसकरकेही विद्वानोंका समूह अपने अपने स्थानोंमें भेज दिया । जब विद्वानोंकी मंडली चली गई तब राजाने सहजसी द्वारपालको आज्ञा दी कि, जो कोई ब्राह्मण आवें तो हमारे स्थानमें लाने । तिसके अनंतर संपूर्ण द्रव्यको लेकर जब बाणकवि घर चला गया तब कितनेक पंडित कहने लगे कि, अहो बाणकविने अनुचित किया । क्योंकि जिससे यहभी हमारे साथ नगरसे निकसा था इसवास्ते बराबरही थे और संपूर्ण धनको यही ग्रहण करता भया । सब प्रकारसे भोजके आगे बाणकविके रूपको कहेंगे । जैसे कोईभी विद्वानों विषे अन्याय न करे । तिसके अनंतर वे विद्वान् राजाको प्राप्त होकर देखते भये । राजा

तिनको कहने लगा कि यह स्वरूप तो जानही लिया परंतु तुम यथार्थतासे वर्णन करो । पश्चात् तिन विद्वानोंने संपूर्ण वृत्तांत निवेदन किया । पश्चात् राजा विचार करता भया । कि सब प्रकारसे मेरे भयसे कालिदास चारण वेष करके मेरेही नगरमें स्थित है । पश्चात् राजा सेनापतियोंको हुकम देता भया कि । अहो घोडोंको दौडाओ । फिर बगीचोंमें चलनेके वास्ते ढंढोरा बाजता भया कि, अहो अब राजा देवपूजामें लग रहा है ऐसे सुनते हैं । फिर अभी बगीचोंको जावेगा इस प्रकार ढंढोरेकी ध्वनि सुनके व्याकुल हुए संपूर्ण योद्धा लोक इकट्ठे होकर राजाके पीछे (संग २) चलने लगे । फिर राजा तिन विद्वानोंसहित घोडेपर सवार होकर रात्रिमें जहां चारणका प्रसंग हुआ था तिस देशको प्राप्त होता भया । पश्चात् राजा फिरते हुए चोरोंकी पैडोंकी जिन्हें पहचान होती है तिनको (खोजी लोगोंको) बुलाकर कहने लगा कि, इस मार्गकरके जो कोई रात्रिको गया है तिसकी पैड अबभी दीखती है तिनको देखो । पश्चात् राजा पंडित२ प्रति लाख लाख रुपैये देकर और तिनको घरोंको भेजकर आपभी अपने स्थानको जाते भये । और वे पैडोंको जाननेवाले पुरुष चारों तरफ फिरते हुएभी तिस पैडवाले मनुष्यको नहीं देखते हुए मूढोंकी तरह होते भये । पश्चात् जब बहुत थोडा दिन रह गया तब टूटी जूतीको लिये हुए किसी एक दासीको चमारके घर जाती हुईको देखकर प्रसन्नकी

तरह होते भये । पश्चात् वह टूटी जूती तिसने चमारके हाथमें दी (फिर तिस जूतीको) देखके तिन (खोजी लोगो) ने तिस (चमार) के हाथसे किसी मिसकरके लेके रेतवाले रास्तामें गेरकर और तिसकी पैडको जो पहले खोज मिला था उसीमें मिला जानकर और तिस दासीको क्रमसे वेश्याके स्थानको गई हुई जानकर तिस वेश्याके स्थानको चारों तरफसे बंदोबस्तमें करते भये। तिसके अनंतर तिन्होंने क्षणमात्रमें यह पैडवालेके ज्ञानकी वार्त्ता राजा भोजके कानोंमें पहुँचा दी । तिसके अनंतर राजा भोज पुरके जन और मंत्रियोंसहित पैदलही विलासवतीके स्थानको प्राप्त होते भये । पश्चात् सो वृत्तान्त सुनकर कालिदास विलासवतीको कहने लगा कि, हे प्रिये ! मेरे वास्ते तुझे कैसा कष्ट प्राप्त हुआ तू देख । विलासवती कहने लगी कि, हे श्रेष्ठ कवि ! सुन ॥

उपस्थिते विप्लव एव पुंसां ।
समस्तभावः परिमीयतेऽतः ॥
अवाति वायौ नहि तूलराशे- ।
र्गिरेश्च कश्चित्प्रतिभाति भेदः ॥ १८४ ॥

पुरुषोंका नाश प्राप्त होत संतेही संपूर्ण भाव जान पडता है । इसमें दृष्टान्त है कि जबतक पवन नहीं चले तबतक रुईके समूहका और पर्वतका भेद नहीं भान होता । अर्थात् पवन नहीं चले तबलौं रुईका समूहभी पर्वतसरीखा दीखता है॥

मित्रस्वजनबंधूनां बुद्धेर्वित्तस्य चात्मनः ॥
आपन्निकषपाषाणो जनो जानाति सारताम्१५५॥

मित्र, स्वजन, बन्धु, बुद्धि, द्रव्य, आत्मा इन्होंकी सारताको विपद्रूप कसोटीवाला जनही जान सकता है ॥ १५५ ॥

अप्रार्थितानि दुःखानि यथैवायांति देहिनः ॥
सुखानि च तथा मन्ये दैन्यमत्रातिरिच्यते ॥१५६॥

और शरीरधारियोंके विना प्रार्थना किये दुःख जैसे आपही आ जाते हैं तैसे सुखभी आ जाते हैं। मैं तो यह मानती हूं यहां दीनताही विशेष है ॥ १५६ ॥

सुकवे राज्ञा त्वयि मनाक् निराकृते वचसापि मया सहेदं दासीवृंदं प्रदीप्तवह्नौ पतिष्यति। कालिदासः प्रिये नैवं मंतव्यं मां दृष्ट्वा विकासीकृतास्यो भोजः पादयोः पतिष्यतीति। ततो वेश्यागृहं प्रविश्य भोजः कालिदासं दृष्ट्वा ससंभ्रममाश्लिष्य पादयोः पतति। स राजा पठति च ॥

हे सुकवे! जो वचन करकेभी राजा तुम्हारा थोडासाभी निरादर कर देगा तो मेरे सहित यह दासीसमूह बलते हुए अग्निमें भस्म हो जावेगा। कालिदास कहने लगा कि, हे प्रिये! ऐसे नहीं मानना, मेरेको देखकर हँसता हुआ राजा भोज चरणोंमें गिर जावेगा। तिसके अनंतर वेश्याके घरमें राजा भोज प्रविष्ट होकर और कालिदासको देखकर और संभ्रमसहित मिलकर चरणोंमें गिर गया। और राजा भोज ऐसे कहनेभी लगा ॥

गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोपि वा ॥
मा भून्मनः कदाचिन्मे त्वया विरहितं कवे ॥१५७॥

हे कवे ! चलते ठहरते जागते सोते मेरा मन कभी तुमसे दूर मत हो ॥ १५७ ॥

कालिदासस्तच्छ्रुत्वा व्रीडावनताननस्तिष्ठति । राजा च कालिदासमुखमुन्नमय्याह ॥

कालिदास ऐसे सुनकर लज्जासे नीचेको मुख कर खडा हो गया। और राजा कालिदासके मुखको संमुख कर कहता भया॥

कालिदास कलावास दासवच्चालितो यदि ॥
राजमार्गे व्रजन्नत्र परेषां तत्र का त्रपा ॥ १५८ ॥

हे कलाओंके स्थान कालिदास ! राजमार्गमें चलता हुआ मैं जो दासकी तरह यहां बुला लिया तो इसमें औरोंको क्या लाज है ॥ १५८ ॥

धन्यां विलासिनीं मन्ये कालिदासो यदेतया ॥
निबद्धः स्वगुणैरेष शकुंत इव पंजरे ॥ १५९ ॥

मैं तो विलासिनी वेश्याको धन्यवाद देता हूं जिससे इसने यह गुणी कालिदास अपने गुणोंकरके ऐसे बांध लिया मानो पिंजरामें पक्षी ॥ १५९ ॥

राजा नेत्रयोः हर्षाश्रु मार्जयति कराभ्यां कालिदासस्य । ततः तत्प्राप्तिप्रसन्नो राजा ब्राह्मणेभ्यः प्रत्येकं लक्षं ददौ । निजतुरगे च कालिदासमारोप्य सपरिवारः निजगृहं ययौ । कियत्यपि कालेऽतिक्रान्ते राजा कदाचित्संध्यामालोक्य प्राह ॥

पश्चात् राजा कालिदासके नेत्रोंके आनंद आंसुओंको अपने हाथोंसे पूंछता भया। तिसके अनंतर कालिदासकी प्राप्तिसे प्रसन्न हुआ राजा एक एक ब्राह्मणको लाख लाख रुपैये देता भया। फिर राजा अपने घोडेपर कालिदासको सवार कर परिवारसहित अपने घर आता भया। फिर कुछ काल चला गया तब राजा किसी समयमें संध्याको देखकर कहने लगा॥

परिपतति पयोनिधौ पतंगः।
ततो बाणः प्राह-सरसिरुहामुदरेषु मत्तभृंगः॥
ततो महेश्वरकविः-उपवनतरुकोटरे विहंगः।
ततः कालिदासः-युवतिजनेषु शनैः शनैरनंगः १६०

सूर्य समुद्रमें पडता है। फिर श्लोकका दूसरा चरण बाण कवि कहने लगा कि, हे राजन्! सूर्य ऐसेही कमलपुष्पके बीचमें मदोन्मत्त भौंहरा पडता है। फिर महेश्वर कवि कहने लगा। सूर्य ऐसे अस्त होता है कि जैसे बगीचाके वृक्षोंके खरखोढरमें पक्षी पडता है। फिर कालिदास कहने लगा कि, सूर्य ऐसे अस्त होता है जैसे स्त्रीजनोंमें शनैः शनैः कामदेव प्रवेश होता है। यह संध्यासमयका वर्णन भया१६०

तुष्टो राजा लक्षं लक्षं ददौ। चतुर्थचरणस्य लक्षद्वयं ददौ। कदाचिद्राजा बहिरुद्यानमध्ये मार्गे प्रत्यागच्छंतं कमपि विप्रं ददर्श। तस्य करे चर्ममयं कमंडलुं वीक्ष्य तं चातिदरिद्रं ज्ञात्वा मुखश्रिया विराजमानं चावलोक्य तुरंगं तदग्रे निधायाह। विप्र चर्म-

पात्रं किमर्थं पाणौ वहसीति । स च विप्रः नूनं मुख-शोभया मृदूक्त्या च भोज इति विचार्याह । देव वदान्यशिरोमणौ भोजे पृथ्वीं शासति लोहताम्राभावः समजनि तेन चर्ममयं पात्रं वहामीति । राजा भोजे शासति लोहताम्राभावे को हेतुः । तदा विप्रः पठति ॥

ऐसे इन कवियोंकी कविताको सुन प्रसन्न हुआ राजा एक एक लाख रुपैये बिचले दो चरण बनानेवाले कवियोंको देता भया और चौथा चरण बनानेवाले कालिदास कविको दो लाख रुपैये देता भया । किसी समय राजा भोज बाहर बगीचाके मार्गसे जाता था, तब आगेसे आते हुए किसी ब्राह्मणको देखता भया । तिसके हाथमें चामकी डोली देखकर तिसको अति दरिद्री जानकर और मुखकी शोभासे विराजमान देखकर तिस ब्राह्मणके आगे घोडेको थामकर कहने लगा कि, हे ब्राह्मण ! चर्मपात्र किस वास्ते हाथमें रखते हो ? (ऐसे सुन) वह ब्राह्मण मुखशोभाकरके और कोमल उक्तिकरके राजा भोज है यह निश्चय समझकर कहने लगा । हे देव ! दाताओंमें शिरोमणि राजा भोज पृथ्वीपाल होनेपर लोहे और तांबेका अभाव हो गया, इसवास्ते चर्मका पात्र रखता हूं । फिर राजा कहने लगा कि, भोज राजा होनेपर लोहे तांबेके अभावका क्या कारण है । फिर ब्राह्मण कहने लगा कि ॥

अस्य श्रीभोजराजस्य द्वयमेव सुदुर्लभम् ॥
शत्रूणां शृंखलैर्लोहं ताम्रं शासनपत्रकैः ॥ १६१ ॥

इस राजा भोजके (बहुत खरच होनेसे) दो वस्तु बहुत दुर्लभ हो गईं । शत्रुओंकी बेडियोंके वास्ते खरच होनेसे लोहा और इनाम पट्टा लिखनेसे तांबा ॥ १६१ ॥

ततस्तुष्टो राजा प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ । कदाचिद्द्वारपालः प्राह । धारेंद्र दूरदेशादागतः कश्चिद्विद्वान् द्वारि तिष्ठति तत्पत्नी च तत्पुत्राः सपत्नीकः । अतोतिपवित्रं विद्वत्कुटुंबं द्वारि तिष्ठतीति । राजा अहो गरीयसी शारदाप्रसादपद्धतिः । तस्मिन्नवसरे गजेंद्रपाल आगत्य राजानं प्रणम्य प्राह । भोजेंद्र सिंहलदेशाधीश्वरेण सपादशतं गजेंद्राः प्रेषिताः षोडश महामणयश्च । ततो बाणः प्राह ॥

तिसके अनंतर राजा प्रसन्न होके एक एक अक्षर प्रति लाख लाख रुपैये देता भया । किसी समयमें द्वारपाल कहने लगा । हे धारानगरीके स्वामिन् ! दूर देशसे आया हुआ कोई विद्वान् द्वारपर खडा है । और तिसकी स्त्री खडी है और तिसके पुत्र है ऐसे सपत्नीक हैं । इसवास्ते अतिपवित्र विद्वान्का कुटुंब द्वारपर खडा है (ऐसे सुन) राजा कहने लगा कि अहो सरस्वतीके प्रसादका मार्ग बडा है । तिस अवसरमें गजेन्द्रपाल आकर (और) राजाको नमस्कार

करके कहने लगा । भोजेन्द्र ! सिंहल देशके राजाने सवासौ (१२५) हस्ती भेजे हैं (और) सोलह महामणियें भेजी हैं। तिसके अनन्तर बाण कवि कहने लगा ॥

स्थितिः कवीनामिव कुंजराणां ।
स्वमंदिरे वा नृपमंदिरे वा ॥
गृहे गृहे किं मशका इवैते ।
भवंति भूपालविभूषितांगाः ॥ १६२ ॥

हे राजन् कवियोंकी तरह हस्तियोंकी स्थिति अपने मंदिरमें अथवा राजाके मन्दिरमें शोभित है । (और) राजाओंकरके विभूषित हैं अंग जिन्होंके ऐसे ये कवि और हस्ती घर घर मच्छरोंकी तरह किसवास्ते फिरते हैं ॥ १६२ ॥

ततो राजा गजावलोकनाय बहिरगात् । ततस्तद्विद्वत्कुटुंबं वीक्ष्य चोलपंडितो राज्ञः प्रियोहमिति गर्वं दधार । यन्मया राजभवनमध्यं गम्यते । विद्वत्कुटुंबं तु द्वारपालज्ञापितमपि बहिरास्ते । तदा राजा तच्चेतसि गर्वं विदित्वा चोलपंडितं सौधांगणान्निस्सारितवान् । काशीदेशवासी कोपि तंडुलदेवनामा राज्ञे स्वस्तीत्युक्त्वातिष्ठत् । राजा च तं पप्रच्छ । सुमते कुत्र निवासः ॥

तिसके अनंतर राजा हस्तियोंको देखनेके वास्ते बाहर आता भया । पश्चात् तिस विद्वान्को (और) विद्वान्के कुलको देखकर चोलपंडित ऐसे गर्वको धारण करता भया।

कि मैं राजाको प्रिय हूं क्योंकि जिससे मैं राजाके महलोंमें जाता हूं । (और) विद्वान्का कुल तो द्वारपालका बनाया हुआभी बाहर खडा है । तब राजा चोलपंडितके चित्तमें गर्वको जानकर तिसको महलके आंगनसे बाहर निकालता भया । फिर काशीदेशमें वसनेवाला कोई तंडुलदेव नामा विद्वान् राजाको ' स्वस्ति ' ऐसे आशीर्वाद देकर स्थित होता भया । राजाभी तिसको पूंछता भया कि, हे सुमते ! हे विद्वान् ! तुम्हारा निवास कहां है ॥

वर्त्तते यत्र सा वाणी कृपाणी रिक्तशाखिनः ॥
श्रीमन्मालवभूपाल तत्र देशे वसाम्यहम् ॥ १६३॥

हे श्रीमान् ! हे मालवदेशके राजा ! जहां खाली हाथवाले जनके पास वाणी (वचन) ही तलवारके समान रहती है अर्थात् तलवारकी तरह वचनसेही काट देते हैं, तहां (पूर्वदेशमें) मैं वसता हूं ॥ १६३ ॥

तुष्टो राजा तस्मै गजेंद्रसप्तकं ददौ । ततः कोपि विद्वानागत्य प्राह ॥

प्रसन्न हुआ राजा तिस विद्वान्को सात हस्ती देता भया । पश्चात् कोई विद्वान् आकर कहने लगा ॥

तपसः संपदः प्राप्यास्तत्तपोपि न विद्यते ॥
येन त्वं भोजकल्पद्रुर्दृग्गोचरमुपैष्यसि ॥ १६४ ॥

जिस तपकरके संपत् प्राप्त होती है सो तप तूभी नहीं है । जिससे तू भोजरूप कल्पवृक्ष हमारे नेत्रोंके आगे प्राप्त होगा ॥

तस्मै राजा दशगजेंद्रान् ददौ । ततः कश्चिद्ब्राह्मणपुत्रो भूंभारवं कुर्वाणोऽभ्येति । ततः सर्वे संभ्रांताः कथं भूंभारवं करोषीति राज्ञा स्वदृग्गोचरमानीतः पृष्टः स प्राह ॥

(प्रसन्न होकर) राजा तिस विद्वान्को दश हस्ती देता भया । पश्चात् कोई ब्राह्मणपुत्र भूँभाशब्द (अर्थात् रोनेका शब्द) करता हुआ प्राप्त हुआ । पश्चात् सुनकर संपूर्ण संभ्रमको प्राप्त हुए और कहने लगे कि ऐसे भूंभाशब्द किसवास्ते करता है, राजाने अपने नेत्रोंके आगे बुलाया और पूंछा जब वह कहने लगा ॥

देव त्वद्दानपाथोधौ दारिद्र्यस्य निमज्जतः ॥
न कोऽपि हि करालंबं दत्ते मत्तेभदायक ॥१६५॥

हे देव ! हे मत्तहस्तियोंके देनेवाले ! तुम्हारे दानरूप समुद्रमें डूबते हुए दारिद्र्यको कोई हाथका सहारा नहीं देता है॥ १६५॥

ततस्तुष्टो राजा तस्मै त्रिंशत् गजेंद्रान् प्रादात् । ततः प्रविशति पत्नीसहितः कोऽपि विलोचनो विद्वान् स्वस्तीत्युक्त्वा प्राह ॥

पश्चात् प्रसन्न हुआ राजा तिसको तीस हस्ती देता भया तिसके पश्चात् पत्नीसहित कोईक[1] विलोचन विद्वान् 'स्वस्ति' कहकर कहने लगा ॥

---

१ जो पहले द्वारपर खडा हुआ था वह, यहां विलोचन उसका नाम समझो अथवा नेत्ररहित प्रज्ञाचक्षु था ऐसे जानो ॥

निजानपि गजान् भोजं ददानं प्रेक्ष्य पार्वती ॥
गजेंद्रवदनं पुत्रं रक्षत्यद्य पुनः पुनः ॥ १६६ ॥

अब पार्वती अपने हस्तियोंको दान करते हुए भोजको देखकर हस्तिमुखवाले अपने पुत्रकी वारंवार रक्षा करती है॥

ततो राजा सप्त गजान् तस्मै ददौ । ततो राजा विद्वत्कुटुंबं तदैव पुरतः स्थितं वीक्ष्य ब्राह्मणं प्राह ॥

पश्चात् राजा सात हस्ती तिसको देता भया । पश्चात् राजा अगाडी खडे विद्वान्के कुटुंबको उसी समय देखकर ब्राह्मणको समस्या कहने लगा ॥

क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे ॥

महान् पुरुषों (बडों) की क्रियाकी सिद्धि शरीरमेंही होती है और सामग्रीमें नहीं होती ॥

वृद्धद्विजः प्राह ॥

फिर वृद्ध ब्राह्मण कहने लगा ॥

घटो जन्मस्थानं मृगपरिजनो भूर्जवसनम् ।
वने वासः कंदादिकमशनमेवंविधगुणः ॥
अगस्त्यः पाथोधिं यदकृत करांभोजकुहरे ।
क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे ॥ १६७॥

जिसका जन्मस्थान तो घडा और मृग आदि कुटुंब और जिसके वस्त्र भोजपत्र, वास वनमें, भोजन कंद आदि ऐसे गुणवाला अगस्त्य मुनि समुद्रका आचमन करता भया । इसवास्ते बडोंकी क्रियासिद्धि शरीरमें अथवा बलमेंही होती है और सामग्रीमें नहीं होती ॥ १६७ ॥

ततो राजा बहुमूल्यानपि षोडशमणीन् तस्मै ददौ। ततस्तत्पत्नीं प्राह राजा अंब त्वमपि पठ । देवी ॥

पश्चात् राजा बहुत मूल्यवाली सोलह मणि तिस पंडितको देता भया । पश्चात् राजा तिस ब्राह्मणकी स्त्रीको कहने लगा कि, हे मातः ! तूभी समस्या पूर्ण कर (ऐसे सुन) देवी कहने लगी ॥

रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्ततुरगा ।
निरालंबो मार्गश्चरणविकलः सारथिरपि ॥
रविर्यात्येवांतं प्रतिदिनमपारस्य नभसः ।
क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे॥ १६८॥

सूर्यके रथकी पहियां तो एक और सात घोडे वेभी सर्पोंसे बांधे हुए और आकाशमें मार्ग और पांगला सारथि ऐसाभी सूर्य दिन २ प्रति अपार आकाशका अंत करजाता है। इसीवास्ते बडोंकी क्रियासिद्धि शरीरमें या बलमेंही होती है। सामग्रीमें नहीं होती ॥ १६८ ॥

राजा तुष्टः सप्तदश गजान् सप्त रथांश्च तस्यै ददौ। ततो विप्रपुत्रं प्राह राजा। विप्रसुत। त्वमपि पठ। विप्रसुतः ॥

फिर प्रसन्न राजा सतरह (१७) हस्ती और सात (७) रथ तिस ब्राह्मणीको देता भया । फिर राजा ब्राह्मणके पुत्रको कहता भया, हे विप्रपुत्र ! तूभी श्लोक पढ ऐसे सुन ब्राह्मणका पुत्र कहने लगा ॥

विजेतव्या लंका चरणतरणीयो जलनिधि-।
र्विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः ॥
पदातिर्मर्त्योऽसौ सकलमवधीद्राक्षसकुलम् ।
क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे ॥ १६९ ॥

लंकापुरी जीतनी थी और समुद्र पैरोंसेही पार करना था. फिर पुलस्त्य ऋषिका पुत्र रावण (महान् शूर वीर) शत्रु था और तहां रणभूमिमेंभी वानर सहायक थे फिर यह रामचंद्रजी पियादे और मनुष्यही थे तोभी संपूर्ण राक्षसोंके कुलको नष्ट करते भये । इसवास्ते महान् पुरुषोंके शरीरमें या बलमेंही क्रियाकी सिद्धि है (कार्यसिद्धि है) । कुछ सामग्रीमें नहीं ॥ १६९ ॥

तुष्टो राजा विप्रसुताय अष्टादश गजेंद्रान् प्रादात् । ततः सुकुमारमनोज्ञनिखिलांगावयवालंकृतां शृंगाररसोपजातमूर्तिमिव चंपकलतामिव लावण्यगात्रयष्टिं विप्रस्नुषां वीक्ष्य नूनं भारत्याः कापि लीलाकृतिरियमिति चेतसि नमस्कृत्य राजा प्राह । मातस्त्वमप्याशिषं वद । विप्रस्नुषा देव शृणु ॥

ऐसे सुन राजा प्रसन्न होकर ब्राह्मणके पुत्रको अठारह हस्ती देता भया । तिसके अनन्तर कोमल सुंदर संपूर्ण अंग अवयवोंसे विभूषित शृंगाररससे उत्पन्न हुई मूर्तिकी तरह चंपाकी वेलकी तरह शोभारूप शरीरकी यष्टिकी तरह ऐसी ब्राह्मणकी पुत्रवधूको देखकर बोला कि निश्चय सरस्वतीकी

यह कोई लीलाकी आकृति है ऐसे चित्तमें नमस्कार कर राजा कहने लगा। हे मातः! तूभी आशीर्वाद कह। पंडितकी पत्रवधू कहने लगी कि, हे देव! सुनो॥

धनुः पौष्पं मौर्वी मधुकरमयी चंचलदृशाम्।
दृशां कोणो बाणः सुहृदपि जडात्मा हिमकरः॥
स्वयं चैकोऽनंगः सकलभुवनं व्याकुलयति।
क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे॥ १७०॥

जिसके पुष्प तो धनुष है और भौंरारूप ज्या (प्रत्यंचा) है और चंचलनेत्रवाली स्त्रियोंका नेत्रकोण तिसका बाण है और जडात्मा चंद्रमा तिसका मित्र और आप अंगरहित है ऐसा अकेलाही कामदेव संपूर्ण भुवनको व्याकुल कर देता है। इसवास्ते बडोंकी क्रियासिद्धि प्रतापमेंही है और सामग्रीमें नहीं है॥ १७०॥

चमत्कृतो राजा लीलादेवीभूषणानि सर्वाण्यादाय तस्यै ददौ। अनर्घ्यांश्च सुवर्णमौक्तिकवैडूर्यप्रवालांश्च प्रददौ। ततः कदाचित्सीमंतनामा कविः प्राह॥

चमत्कृत हुआ राजा लीलादेवीका संपूर्ण आभूषण लेकर तिसको देता भया। और बहुत मूल्यवाले सुवर्ण मोति मणि मूंगा तिसको देता भया। तिसके अनंतर किसी समयमें सीमंत नामा कवि कहता भया॥

पंथाः संसर दीर्घतां त्यज निजं तेजः कठोरं रवे।
श्रीमन्विंध्यगिरे प्रसीद सदयं सद्यः समीपे भव॥

इत्थं दूरपलायनश्रमवतीं दृष्ट्वा निजप्रेयसीम् ।
श्रीमन्भोज तव द्विषः प्रतिदिनं जल्पंति मूर्च्छंति च ॥

हे पंथाः (हे रास्ते) ! जल्दी आ जा और दीर्घताको त्याग दे और हे सूर्य ! अपने तेजको त्याग दे, हे श्रीमन् विंध्यपर्वत ! दयासहित प्रसन्न हो और जल्दी नजदीक हो जा। ऐसे दूर भागनेसे श्रमवाली अपनी स्त्रियोंको देखकर तुम्हारे शत्रु नित्य बकते हैं और मूर्छाको प्राप्त होते हैं ॥ १७१ ॥

तस्मिन्नेव क्षणे कश्चित्सुवर्णकारः प्रांतेषु पद्मरागमणिमंडितं सुवर्णभाजनमादाय राज्ञः पुरो मुमोच । ततो राजा सीमंतकविं प्राह । सुकवे इदं भाजनं कामपि श्रियं दर्शयति । ततः कविराह ॥

उसी समय कोई सुनार आया और पुष्परागमणिसे जडा सुवर्णका थाल लाकर राजाको नजर करता भया । फिर राजा सीमंतकविको कहने लगा कि; हे कवे ! यह पात्र कोई विचित्र शोभा दे रहा है । ऐसे सुन कवि कहने लगा ॥

धारेश त्वत्प्रतापेन पराभूतस्त्विषांपतिः ॥
सुवर्णपात्रव्याजेन देव त्वामेव सेवते ॥ १७२ ॥

हे देव ! हे धारेश ! तुम्हारे प्रताप करके सूर्यनारायण तिरस्कृत हुआ सुवर्णपात्रका मिस करके तुम्हारेको सेवन किया चाहता है ॥ १७२ ॥

ततस्तुष्टो राजा तदेव पात्रं मुक्ताफलैरापूर्य प्रादात् । कदाचिद्राजा मृगयारसेन पुरः पलायमानं वराहं

दृष्ट्वा स्वयमेकाकी तदा दूरं वनांतमासादितवान् । तत्र कंचन द्विजवरमवलोक्य प्राह । द्विज, कुत्र गंतासि । द्विजः । धारानगरम् । भोजः । किमर्थम् । द्विजः । भोजं द्रष्टुं द्रविणेच्छया । स पंडिताय दत्ते अहमपि मूर्खं न याचे । भोजः । विप्र, तर्हि त्वं विद्वान्कविर्वा । द्विजः । महाभाग कविरहम् । भोजः । तर्हि किमपि पठ । द्विजः । भोजं विना मत्पदसरणिं न कोऽपि जानाति । राजा । ममाप्यमरवाणीपरिज्ञानमस्ति राजा च मयि स्निह्यति त्वद्गुणं च श्रावयिष्यामि । किमपि कलाकौशलं दर्शय । विप्रः । किं वर्णयामि । राजा । कलमानेतान्वर्णय । विप्रः ॥

पश्चात् प्रसन्न हुआ राजा तिस सुवर्णके थालको मोतियोंसे भरकर तिस कविके वास्ते देता भया । किसी समयमें राजा शिकारका शौक करके आगे भागते हुए सूवरको देखकर उस समय आप अकेला दूर वनको प्राप्त होता भया । तहां किसी ब्राह्मणको देखकर राजा कहने लगा । हे ब्राह्मण । कहां जावेगा । ब्राह्मण कहने लगा कि धारानगरको । फिर भोज कहने लगा । किसवास्ते । ब्राह्मण बोला । द्रव्यकी इच्छा करके, भोजको देखनेको । राजा । भोज तो पंडितकोही द्रव्य देता है । मैंभी मूर्खको नहीं याचता हूं । भोज बोला कि, हे ब्राह्मण । तुम कवि हो कि विद्वान् । ब्राह्मण बोला कि, मैं कवि हूं । भोज कहने लगा । तो

कुछ कहो । ब्राह्मण बोला । भोजके विना मेरी पदोंकी पंक्तिका जाननेवाला कोई नहीं । राजा बोला । मेरेभी देववाणीका ज्ञान है और वह भोज राजा मेरेसे बहुत प्यार रखता है तुम्हारे गुणको मैं राजाको सुनाऊंगा । कुछ विद्याकी चतुरता दिखावो । ब्राह्मण बोला । क्या वर्णन करूं । राजा कहने लगा कि, इन कलमोंको अर्थात् खेतमें खडे हुए व्रीहि (चावल धान्यविशेष) को वर्णन करो । ब्राह्मणने कहा ॥

कलमाः पाकविनम्रा मूलतलाघ्राणसुरभिकह्लाराः ।
पवनाकंपितशिरसः प्रायः कुर्वंति परिमलश्लाघाम् ॥

हे राजन् ! कलम (चावल) पाकसे नम्र हैं और जिनकी जडमें घ्राणरहित सुगंधित कमल हैं ऐसे ये कलम व्रीहि (चावल) धान्य पवनसे शिर हिलाते हुए कमलसुगंधिकी श्लाघा (प्रशंसा) करते हैं ॥ १७३ ॥

राजा तस्मै सर्वाभरणान्युत्तार्य ददौ । ततः कदाचित्कुंभकारवधूः राजगृहमेत्य द्वारपालं प्राह । द्वारपाल राजा द्रष्टव्यः । स आह किं ते राजा कार्यम् । सा चाह । न तेभिधास्यामि नृपाय एव कथयामि । स सभामागत्य प्राह । देव कुंभकारप्रिया काचिद्द्वारि दर्शनाकांक्षिणी न वक्ति मत्पुरः कार्यं त्वत्पुरतः कथयिष्यति । राजा प्राह प्रवेशय । सा चागत्य नमस्कृत्य वक्ति ॥

राजा तिस पंडितको अपने संपूर्ण गहने उतारकर देता भया । पश्चात् किसी समयमें कोई कुम्हारी राजाके भवनमें

आकर द्वारपालको कहने लगी कि, हे द्वारपाल! मेरेको राजाका दर्शन करा दो। द्वारपाल बोला कि तेरा राजासे क्या काम है। कुम्हारी कहने लगी कि, तेरेको नहीं कहूंगी राजाकोही कहूंगी। द्वारपाल सभामें जाकर कहने लगा। हे देव! कोई कुम्हारी आप राजाके दर्शनकी अभिलाषा करती है, और मेरे आगे कार्य नहीं कहती। हे राजन्! आपके आगे कहेगी। राजा कहने लगा कि भेजो। सो कुम्हारी आकर नमस्कार करके कहने लगी॥

देव मृत्खननाद्दृष्टं निधानं वल्लभेन मे॥
स पश्यन्नेव तत्रास्ते त्वां ज्ञापयितुमभ्यगाम्॥१७४॥

हे देव! मिट्टी खोदनेसे मेरे स्वामीको खजाना मिला है सो वह तो तिसको देखता हुआ वहीं स्थित है और मैं अरज करनेको आई हूं॥ १७४॥

राजा च चमत्कृतो निधानकलशमानयामास। तद्द्वारमुत्पाट्य यावत्पश्यति राजा तावत्तदंतर्वर्ति द्रव्यं मणिप्रभामंडलमालोक्य कुंभकारं पृच्छति। किमेतत्कुंभकार। स चाह॥

राजा चमकता हुआ उस खजानेके कलशको मँगाता भया। राजा ऊपरसे उघाड जो देखने लगा तब तिसके बीचमें मणिकांतिसे भूषित द्रव्यको देखकर कुम्हारको पूंछने लगा। हे कुम्हार! यह क्या बात है। कुम्हार कहने लगा॥

राजचंद्रं समालोक्य त्वां तु भूतलमागतम्॥
रत्नश्रेणिमिषान्मन्ये नक्षत्राण्यभ्युपागमन्॥ १७५॥

हे राजन् ! मैं तो यह मानता हूं कि तुम्हारेको राजारूप चंद्रमाको पृथ्वीमें आया हुआ देखकर रत्नोंके मिषकरके नक्षत्रोंकी पंक्ति तुम्हारेको प्राप्त हुई है ॥ १७५ ॥

राजा कुंभकारमुखाच्छ्लोकं लोकोत्तरमाकर्ण्य चमत्कृतः तस्मै सर्वं ददौ । ततः कदाचिद्राजा रात्रावेकाकी सर्वतो नगरचेष्टितं पश्यन् पौरगिरमाकर्णयन् चचार । तदा क्वचिद्वैश्यगृहे वैश्यः स्वप्रियां प्राह प्रिये राजा स्वल्पदानरतोपि उज्जयनीनगराधिपतेर्विक्रमार्कस्य दानप्रतिष्ठां कांक्षते सा किं भोजेन प्राप्यते । केश्चित्तंत्रपरायणैर्मयूरादिकविभिर्महिमानं प्रापितो भोजः । परंतु भोजो भोज एव । प्रिये शृणु ॥

राजा कुम्हारके मुखसे बहुत उत्तम (हदसे जियादे) श्लोक सुनकर विस्मित हुआ तिसको संपूर्ण धन देता भया । तिसके अनंतर किसी समयमें राजा रातको अकेला चारों तरफसे नगरकी चेष्टाको देखता हुआ पुरवासियोंकी वाणीको सुनता हुआ विचरता भया । तिस समयमें कहीं वणियांके घरमें वणियां अपनी प्रियाको कहने लगा । हे प्रिये ! राजा भोज थोडा दान करता हुआभी उज्जैननगरीका स्वामी विक्रमादित्यकेसा यश चाहता है, सो यश क्या भोजको मिल सकता है ? नहीं मिल सकता । तंत्रमें तत्पर कितनेक मयूर आदि कवियोंने राजा भोज महिमाको प्राप्तभी कर दिया है । परंतु भोज तो भोजही है । हे प्रिये ! सुन ॥

आबद्धकृत्रिमसटाजटिलांसभित्ति- ।
रारोपितो यदि पदं मृगवैरिणः श्वा ॥
मत्तेभकुंभतटपाटनलंपटस्य ।
नादं करिष्यति कथं हरिणाधिपस्य ॥ १७६॥

जो कोई बनावटकी कंधवाल (कंधेके ऊपर बाल) आदि बांधकर सिंहकी जगह कुत्तेको बांध देवे तौभी वह कुत्ता मत्त हस्तीके कुम्भतटको फाडनेवाले सिंहका शब्द कैसे करेगा ॥ १७६ ॥

राजा श्रुत्वा विचारितवान् । असौ सत्यमेव वदति । ततः पुनः पुनर्वदंतं शृणोति ॥

राजा (ऐसे) सुनकर विचारता भया कि, यह सत्यही कहता है । पीछे फिर फिर कहते हुएको सुनता भया ॥

आपन्न एव पात्रं देहीत्युच्चारणं न वैदुष्यम् ॥
उपपन्नमेव देयं त्यागस्ते विक्रमार्क किमु वर्ण्यः १७७॥

हे विक्रमादित्य राजन् ! आपका दान क्या वर्णन किया जावे । क्योंकि किसी विपत्तिवाले दरिद्री पुरुषने आपसे पात्र (लोटा आदि बरतन) मांग लिया तो उसमें आपको बडा दुःख भया, फिर आपने उसके वास्ते पूर्ण धन दिया कि जिससे उसको ऐसी ज्यादा विपत्ति नहीं रहे ॥ १७७ ॥

विक्रमार्क त्वया दत्तं श्रीमन् ग्रामशताष्टकम् ॥
अर्थिने द्विजपुत्राय भोजे त्वन्महिम्ना कुतः ॥ १७८ ॥

हे विक्रमादित्य श्रीमन् ! तुमने अभ्यागत ब्राह्मणके

पुत्रक वास्ते आठ सौ गाम दे दिये इसवास्ते भोजमें तुम्हारी महिमा कहांसे आवे ॥ १७८ ॥

प्राप्नोति कुंभकारोपि महिमानं प्रजापतेः ॥
यदि भोजोप्यवाप्नोति प्रतिष्ठां तव विक्रम ॥ १७९ ॥

जो कुम्हार ब्रह्माकी महिमाको प्राप्त होवे तो हे विक्रम ! भोज तुम्हारी प्रतिष्ठाको प्राप्त होवे ॥ १७९ ॥

राजा लोके सर्वोपि जनः स्वगृहे निःशंकं सत्यं वदति । मया वा अन्येन वा सर्वथा विक्रमार्कप्रतिष्ठा न शक्या प्राप्तुम् । ततः कदाचित्कश्चित्कविः राजद्वारं समागत्याह राजा द्रष्टव्य इति । ततः प्रवेशितो राजानं स्वस्तीत्युक्त्वा तदाज्ञयोपविष्टः पठति ॥

राजा कहने लगा लोकमें संपूर्ण जन अपने घरमें निःशंक सत्य कहते हैं, मैं अथवा अन्य संपूर्ण प्रकारसे विक्रमादित्यकी प्रतिष्ठाको नहीं प्राप्त हो सकता । पश्चात् किसी समयमें कोई कवि राजाके द्वारपर आकर कहने लगा कि राजाको आशीर्वाद दिया चाहता हूं । पश्चात् वह कवि भीतर प्राप्त किया तब राजाको ' स्वस्ति ' ऐसे कहकर राजाकी आज्ञासे बैठ गया और श्लोक पढने लगा ॥

कविषु वादिषु भोगिषु देहिषु ।
द्रविणवत्सु सतामुपकारिषु ॥
धनिषु धन्विषु धर्मधनेष्वपि ।
क्षितितले नहि भोजसमो नृपः ॥ १८० ॥

कवि, वादी, भोगी, द्रव्यवान्, श्रेष्ठोंका उपकार करनेवाला, धनी, धनुषधारी, धर्मरूप धनवाला इस शरीरधारियोंमें पृथ्वीतलमें भोजके समान और राजा नहीं है ॥१८०॥

राजा तस्मै लक्षं प्रादात् । ततः कदाचिद्राजा क्रीडोद्यानं प्रस्थितो मध्येमार्गं कामपि मलिनांशुकं वसानां तीक्ष्णकरतपनकरविदग्धमुखारविंदां सुलोचनां लोचनाभ्यां आलोक्य पप्रच्छ ॥

राजा तिस कविको लक्ष रुपैये देता भया। पश्चात् किसी समयमें राजा बगीचाको चला, तब मार्गके बीचमें मलिन वस्त्र ओढे और तीक्ष्ण सूर्यकी किरणोंसे पसीनावाले मुखकमलवाली सुंदर नेत्रोंवाली ऐसी किसी स्त्रीको नेत्रोंसे देखकर राजा पूछने लगा ॥

'का त्वं पुत्रि' । सा च तं श्रीभोजभूपालं मुखश्रिया विदित्वा तुष्टा प्राह-'नरेंद्र लुब्धकवधूः' । हर्षसंभृतो राजा तस्याः पटुप्रबंधानुबंधेनाह-'हस्ते किमेतत्' । सा चाह-'पलम्' । राजाह-'क्षामं किं' । सा चाह-'सहजं ब्रवीमि नृपते यद्यादराच्छ्रूयते ॥ गायंति त्वदरिप्रियाश्रुतटिनीतीरेषु सिद्धांगनाः । गीतं गानतृणं चरंति हरिणास्तेनामिषं दुर्लभम् ॥ १८१ ॥

हे पुत्रि ! तू कौन है । शोभी मुखकांतिकरके तिसको राजा भोज जानकर प्रसन्न हुई कहने लगी-हे नरेंद्र ! पारधीकी स्त्री हूं । ऐसा श्लोकचरण सुनकर तिसके सुंदर प्रबंधसे

प्रसन्न हुआ राजा कहने लगा। हाथमें यह क्या है। सो कहने लगी–मांस। फिर राजा कहने लगा–थोडा क्यों है। सो कहने लगी–हे राजन्! जो आदरसे सुनते हो तो मैं सत्य कहती हूं तुम्हारे शत्रुओंकी स्त्रियोंके आसुओंकी नदीके तीरपर सिद्धांगना गीत गाती हैं। तहां हिरण गानरूप तृण चरते हैं तिसकरके मांस दुर्लभ हो रहा है। अर्थात् भूखे मृगोंका मांस सूख गया॥ १८१॥

राजा तस्यै प्रत्यक्षरं लक्षं प्रादात्। सर्वाभरणान्युत्तार्य तं च तुरगं ददौ। ततो गृहमागत्य गवाक्षे उपविष्टः। तत्र चासीनं भोजं दृष्ट्वा राजवर्त्मनि स्थित्वा कश्चिदाह। देव सकलमहीपाल आकर्णय॥

ऐसे सुन राजा तिस लुब्धकवधूको अक्षर अक्षर प्रति लाख लाख रुपैये देता भया। और संपूर्ण आभूषण उतारकर देता भया और घोडा देता भया। फिर महलोंमें आकर झरोखेमें बैठ गया। तहां बैठे हुए भोजको देखकर कोई पुरुष राजमार्गमें स्थित होकर कहने लगा। हे देव! हे सकलमहीपाल! सुनो॥

इतश्चेतश्चाद्रिर्विघटिततटः सेतुरुदरे।
धरित्री दुर्लंघ्या बहुलहिमपंको गिरिरयम्॥
इदानीं निर्वृत्ते करितुरगनीराजनविधौ।
न जाने यातारस्तव च रिपवः केन च पथा॥ १८२॥

हे राजन्! अब आपकी सेनाके हस्ती घोडोंको जल

पिलाना न्हलाना और सब जगह सेनाकी सजावट होनेके समय आपके शत्रुलोग किस मार्गसे जावेंगे । यह नहीं जानता हूं क्योंकि पुलोंके तटोंपर वा मध्यभागमें अत्यंत भीड मच रही है । और पृथ्वी दुर्लंघ्य है (किसी जगह कर नहीं गया जावे है) और हिमालय पर्वतमें बर्फ बहुत पडती है ॥१८२॥

तुष्टो भोजो वर्त्मनि स्थितायैव तस्मै वंश्यान् पंच गजान् ददौ । कदाचिद्राजा मृगयारसपराधीनो हयमारुह्य प्रतस्थे ॥

ऐसे सुन प्रसन्न हुआ राजा मार्गमें स्थित हुएही तिस ब्राह्मणको खानदानमें होनेवाले पांच गज राजा देता भया । किसी समय राजा शिकारके रससे पराधीन हुआ घोडेपर स्वार हो जाता भया ॥

ततो नदीं समुत्तीर्णं शिरस्यारोपितेंधनम् ॥
वेषेण ब्राह्मणं ज्ञात्वा राजा पप्रच्छ सत्वरम् ॥ १८३ ॥

तिसके अनंतर शिरपर ईंधन धरे नदी तिरते हुए ब्राह्मणको वेषकरके पहँचान कर राजा शीघ्र पूंछने लगा॥१८३॥

कियन्मानं जलं विप्र ।
स आह–जानुदघ्नं नराधिप ॥
स चमत्कृतो राजाह–ईदृशी किमवस्था ते ।
स आह–न हि सर्वे भवादृशाः ॥१८४॥

हे ब्राह्मण ! जल कितना है । तिसने कहा कि–हे राजन्! जानुदघ्न अर्थात् गोडाप्रमाण । फिर राजा चमत्कृत हुआ

बोला कि—तथापि तुम्हारी ऐसी अवस्था क्यों है अर्थात् ऐसा पढकरभी यह हाल क्यों है। सो कहने लगा—संपूर्ण तुम्हारेकेसे नहीं अर्थात् गुणके जाननेवाले नहीं ॥ १८४ ॥

राजा प्राह कुतूहलात्। विद्वन् याचस्व कोशाधिकारिणं, लक्षं दास्यति मद्वचसा। ततो विद्वान् काष्ठं भूमौ निक्षिप्य कोशाधिकारिणं गत्वा प्राह। महाराजेन प्रेषितोहं। लक्षं मे दीयतां। ततस्स हसन् आह। विप्र भवन्मूर्तिः लक्षं नार्हति। ततो विषादी स राजानमेत्याह। स पुनर्हसति देव नार्पयति। राजा कुतूहलादाह। लक्षद्वयं प्रार्थय दास्यति। पुनरागत्य विप्रो लक्षद्वयं देयमिति राज्ञोक्तमित्याह। पुनर्हसति। पुनरपि भोजं प्राप्याह। स पापिष्ठो मां हसति नार्पयति। ततः कौतूहली लीलानिधिर्महीं शासत् श्रीभोजराजः प्राह। विप्र लक्षत्रयं याचस्व अवश्यं स दास्यति। पुनरेत्य प्राह। राजा मे लक्षत्रयं दापयति। स पुनर्हसति। ततः क्रुद्धो विप्रः पुनरेत्याह देव स नार्पयत्येव॥

राजा आनंदसे कहने लगा, हे विद्वन्! खजानचीके पास जाकर मांगो मेरे हुकमसे लाख रुपैये देगा। पश्चात् विद्वान् काष्ठको भूमिपर गेरकर और खजानचीके पास जाकर कहने लगा कि, मैं महाराजका भेजा हूं लाख रुपैये मेरेको दो। फिर वह खजानची हँसकर कहने लगा। हे ब्राह्मण! तुम्हारी सूरत लाख रुपयोंके योग्य नहीं। पश्चात् विषादयुक्त हुआ

वह ब्राह्मण राजाको प्राप्त होकर कहने लगा कि, हे राजन् ! वह खजानर्चा हँसा और रुपैया नहीं दिया । राजा फिर आनंदसे कहने लगा कि, दो लाख रुपैये मांगो देगा । फिर आकर ब्राह्मण कहने लगा । दो लाख रुपैये दो राजाने कहा है । खजानर्ची फिर हँसा । फिर भोजको प्राप्त होकर ब्राह्मण कहने लगा । वह खजानची पापी हँसता है और मेरेको रुपैया नहीं देता । पश्चात् आनंदवाला क्रीडाका स्थान पृथ्वीको शिक्षा करनेवाला राजा भोज कहने लगा । हे ब्राह्मण ! तीन लाख रुपया मांगो सो खजानची जरूर देगा । फिर आकर कहने लगा । राजा मेरेको तीन लाख रुपैये दिखाता है । ऐसे सुन फिर हँसा । पश्चात् क्रोधित हुआ ब्राह्मण फिर आकर राजाको कहने लगा कि, हे देव ! वह तो देताही नहीं ॥

राजन्कनकधाराभिस्त्वयि सर्वत्र वर्षति ॥
अभाग्यच्छत्रसंछन्ने मयि नायांति बिंदवः ॥ १८५ ॥

हे राजन् ! सुवर्णकी धाराकरके आपके सब जगह वर्षते हुए अभाग्यरूप छत्रकरके ढका हुआ जो मैं हूं मेरे ऊपर बूंद नहीं आती है ॥ १८५ ॥

त्वयि वर्षति पर्जन्ये सर्वे पल्लविता द्रुमाः ॥
अस्माकमर्कवृक्षाणां पूर्वपत्रेषु संक्षयः ॥ १८६ ॥

हे राजन् ! तुम्हारे मेघरूपके वर्षा करते हुए संपूर्ण वृक्षोंके पत्र आ गये और हमारे आंक वृक्षरूपोंके तो पहले पत्रभी नष्ट हो गये ॥ १८६ ॥

एकमस्य परमेकमुद्यमम् ।
निस्त्रपत्वमपरस्य वस्तुनः
नित्यमुष्णमहसा निरस्यते ।
नित्यमंधतमसं प्रधावति ॥ १८७ ॥

इस जीवके परम मुख्य तो एकही उपाय है कि लज्जा नहीं करना क्योंकि (देखो) हमेशः दिनकरके गरमाई (तेजी प्रकाश) किया जाता है और अंधेरा प्रतिदिन हमेशा भागता है; किसीको लज्जा नहीं आती है ॥ १८७ ॥

ततो राजा प्राह–
क्रोधं मा कुरु मद्वाक्याद्गत्वा कोशाधिकारिणम् ॥
लक्षत्रयं गजेंद्राश्च दश ग्राह्यास्त्वया द्विज ॥ १८८ ॥

फिर राजा बोला । हे ब्राह्मण ! क्रोध मत करो और मेरे हुकुमसे खजानची पास जाओ तीन लाख रुपैये और दश हस्ती ले लो ॥ १८८ ॥

ततः स्वांगरक्षकं प्रेषयति । ततः कोशाधिकारी धर्मपत्रे लिखति ॥

पश्चात् राजाने अरदलीका सिपाही भेजकर सब दिखा दिया । फिर खजानची धर्मपत्रपर लिखता भया ॥

लक्षं लक्षं पुनर्लक्षं मत्ताश्च दश दंतिनः ॥
दत्ताः श्रीभोजराजेन जानुदघ्नप्रभाषिणे ॥ १८९ ॥

लाख लाख फिर लाख ऐसे तीन वारके हुकुममें तीन लाख रुपैये और दश हस्ती श्रीभोजराजाने जानुदघ्न

अर्थात् गोडेप्रमाण जल है ऐसा वचन कहनेवाले विद्वान्को दिये ॥ १८९ ॥

ततः सिंहासनमलंकुर्वाणे श्रीभोजनृपतौ द्वारपाल आगत्य प्राह । राजन् कोपि शुकदेवनामा कविर्द्वारि वर्त्तते । राजा बाणं प्राह । पंडितवर सुकवे तत्त्वं विजानासि । बाणः । देव शुकदेवपरिज्ञानसामर्थ्याभिज्ञः कालिदास एव नान्यः । राजाह सुकवे सखे कालिदास किं विजानासि शुकदेवकविं । आह कालिदासः । देव ॥

तिसके अनंतर सिंहासनपर बैठे हुए भोजराजाके द्वारपालने आकर कहा कि, राजन् ! कोई शुकदेवनामा कवि द्वारपर खडा है । राजा बाणकविको कहने लगा कि, हे पंडितवर ! हे सुकवे ! तिसको तुम जानते हो ? बाणकवि कहने लगा कि, हे राजन् ! शुकदेवके ज्ञानको जाननेवाला कालिदासही है और नहीं । राजा कहने लगा कि, हे सुकवे ! हे सखे कालिदास ! तुम शुकदेव कविको जानते हो ? कालिदास कहने लगा कि, हे देव ! ॥

सुकविद्वितयं जाने निखिलेपि महीतले ॥
भवभूतिः शुकश्चायं वाल्मीकिस्त्रितयोनयोः ॥ १९० ॥

संपूर्ण पृथ्वीतलमें श्रेष्ठ दो कवियोंको जानता हूं । एक भवभूति दूसरा शुकदेव और इनके मध्यमें तीसरा वाल्मीकि ॥

ततो विद्वद्वृन्दवंदिता सीता प्राह ॥

पश्चात् विद्वद्वृन्दसे प्रणाम करी हुई सीता कहने लगी ॥

अपृष्टस्तु नरः किंचित् यो ब्रूते राजसंसदि ॥
न केवलमसन्मानं लभते च विडंबनाम् ॥ १९१ ॥

राजसभामें बिना पूंछे जो मनुष्य कुछ कहता है सो केवल असत्कारकोही नहीं प्राप्त होता किंतु दुःखकोभी प्राप्त होता है ॥ १९१ ॥

देव तथाप्युच्यते ॥

परंतु हे राजन् ! फिरभी कहिये है ॥

का सभा किं कविज्ञानं रसिकाः कवयश्च के ॥
भोज किं नाम ते दानं शुकस्तुष्यति येन सः ॥ १९२

हे भोजराजन् ! क्या यह सभा है, क्या कविज्ञान है, क्या रसिक कवि है ? राजन् ! क्या तेरा दान है कि, जिसकरके शुककवि प्रसन्न होवे ॥ १९२ ॥

तथापि भवनद्वारमागतः शुकदेवः सभायामानेतव्य एव । तदा राजा विचारयति । शुकदेवसामर्थ्यं श्रुत्वा हर्षविषादयोः पात्रमासीत् । महाकविरवलोकित इति हर्षः, अस्मै सत्कविकोटिमुकुटमणये किं नाम देयमिति च विषादः । भवतु द्वारपाल प्रवेशय । तत आयांतं शुकदेवं दृष्ट्वा राजा सिंहासनादुदतिष्ठत । सर्वे पंडितास्तं शुकदेवं प्रणम्य सविनयमुपवेशयंति । स च राजानं सिंहासने उपवेश्य स्वयं तदाज्ञयोपविष्टः । ततश्शुकदेवः प्राह ॥ देव धारानाथ श्रीविक्रमनरेंद्रस्य या दानलक्ष्मीः

सा त्वामेव सेवते । देव मालवेंद्र एव धन्यो नान्ये भूभुजः । यस्य ते कालिदासादयो महाकवयः सूत्रणद्धाः पक्षिण इव निवसंति । ततः पठति ॥

फिरभी महलोंके द्वारे आया हुआ शुकदेव कवि सभामें लाना योग्य है । तब राजा विचारने लगा । और शुकदेवकी सामर्थ्य सुनकर राजाको आनंद और क्लेश दोनों होते भये । महाकविको देखूंगा, ऐसे तो आनंद, (और) श्रेष्ठकविकोटियोंमें मुकुटमणिरूप इस कविको क्या देना चाहिये, यह विषाद होता भया । (राजा बोला) कुछ हो हे द्वारपाल ! कविको भेजो पश्चात् आये हुए शुकदेवकविको देखकर राजा सिंहासनसे उठता भया । संपूर्ण पंडित तिस शुकदेवको नमस्कार करके नम्रतायुक्त हुए बैठते भये । शुकदेव कवि राजाको सिंहासनपर बैठाकर आप राजाकी आज्ञासे बैठता भया । पश्चात् शुकदेव कहने लगा । हे देव धारानाथ ! श्रीविक्रमराजाकी जो दानलक्ष्मी है सो तुम्हारेकोही सेवती है । हे देव मालवेन्द्र ! तुम्हारेकोही धन्य है और राजाओंकी नहीं । जिस तुम्हारे कालिदास आदि महाकविलोग सूत्रसे बांधे पक्षियोंकी तरह वसते हैं । तिसके अनंतर श्लोक पढा ॥

प्रतापभीत्या भोजस्य तपनो मित्रतामगात् ॥
और्वो वाडवतां धत्ते तडित् क्षणिकतां गता ॥ १९३ ॥

भोजके प्रतापके भयसे सूर्य तो मित्रताको प्राप्त हो गया । समुद्रअग्नि वाडवताको प्राप्त हो गया (अश्वताको प्राप्त हो गया) बिजली क्षणिकताको प्राप्त हो गई ॥ १९३ ॥

राजा । तिष्ठ सुकवे नापरः श्लोकः पठनीयः ॥

राजा कहने लगा। हे कवे। ठहरो और श्लोक नहीं पढना (अर्थात् एक श्लोककी दक्षिणाभी कठिनतासे दी जायगी) ॥

सुवर्णकलशं प्रादाद्दिव्यमाणिक्यसंभृतम् ॥
भोजः शुकाय संतुष्टो दंतिनश्च चतुःशतम् ॥ १९४ ॥

राजा भोज प्रसन्न होकर शुकदेव कविको सुन्दर मणियोंसे भरा सुवर्णका कलश देता भया और चार सो हस्ती देता भया ॥ १९४ ॥

इति पुण्यपत्रे लिखित्वा सर्वं दत्त्वा कोशाधिकारी शुकं प्रस्थापयामास। राजा स्वदेशं प्रति गतं शुकं ज्ञात्वा तुतोष। सा च परिषत् संतुष्टा। अन्यदा वर्षाकाले वासुदेवो नाम कविः कश्चिदागत्य राजानं दृष्टवान्। राजा सुकवे पर्जन्यं पठ। ततः कविराह ॥

ऐसे पुण्यपत्रपर लिखकर और संपूर्ण देकर खजनाची शुकदेवकविको भेजता भया। राजा अपने देशको गये हुए शुकदेवकविको जानकर प्रसन्न होता भया। और सभाभी प्रसन्न होती भई। फिर वर्षाकालमें कोई वासुदेव नाम कवि आकर राजाको देखता भया। राजा कहने लगा, हे सुकवे! मेघका वर्णन करो। पश्चात् कवि कहने लगा ॥

नो चिंतामणिभिर्न कल्पतरुभिर्नो कामधेन्वादिभि- ।
र्नो देवैश्च परोपकारनिरतैः स्थूलैर्न सूक्ष्मैरपि ॥
अंभोदेन निरंतरं जलभरैस्तामुर्वरां सिंचता ।
धौरेयेण धुरं त्वयाद्य वहता मन्ये जगज्जीवति॥१९५॥

निरंतर पराये उपकारमें लगे हुए स्थूल तथा सूक्ष्म चिंतामणि, कल्पवृक्ष, कामधेनु आदि और देवता इन करके कुछ नहीं, किंतु जलके भरे निरंतर पृथ्वीको सींचते हुए जो मेघ हैं उनकरके और धुर (भार) को वहते हुए तुम्हारे करके मैं मानता हूं कि जगत् जीवता है ॥ १९५ ॥

राजा लक्षं ददौ । कदाचिद्राजानं निरंतरं ददानमालोक्य मुख्यामात्यो वक्तुमशक्तो राज्ञः शयनभवनभित्तौ व्यक्तान्यक्षराणि लिखितवान् ॥

राजा सुनकर लाख रुपये देता भया । किसी समय राजाको निरंतर दान देते हुए देखकर कहनेमें असमर्थ मुख्य दीवान राजाके आरामस्थानके भींतरर स्पष्ट अक्षरोंसे यह चरण लिखता भया ॥

आपदर्थं धनं रक्षेत्,

विपत्तिके वास्ते धनकी रक्षा करनी ।

राजा शयनादुत्थितो गच्छन् भित्तौ तान्यक्षराणि वीक्ष्य स्वयं द्वितीयचरणं लिलेख ॥

राजा शयनसे उठकर चलता हुआ भींतरर तिन अक्षरोंको देखकर आप दूसरे चरणको लिखता भया ॥

श्रीमतामापदः कुतः ॥

श्रीमानोंके आपत् कैसी ॥

अपरेद्युरमात्यो द्वितीयं लिखितं दृष्ट्वा स्वयं तृतीयं लिलेख ॥

अगले दिन मंत्री दूसरे चरणको लिखा हुआ देखकर आप तीसरा यह लिखता भया ॥

सा चेदपगता लक्ष्मीः,

कि, वह लक्ष्मी चली जावेगी तो ?

परेद्यू राजा चतुर्थं लिखति ॥

अगले दिन राजा चौथे चरणको लिखता भया ॥

संचितार्थो विनश्यति ॥ १९६ ॥

इकट्ठा किया धनभी नष्ट हो जाता है ॥ १९६ ॥

ततः मुख्यामात्यो राज्ञः पादयोः पतति । देव क्षंतव्योयं ममापराधः । अन्यदा धाराधीश्वरमुपरि सौधभूमौ शयानं मत्वा कश्चिद्द्विजचोरः खातपातपूर्वं राज्ञः कोशगृहं प्रविश्य बहूनि विविधरत्नानि वैडूर्यादीनि हृत्वा तानि तानि परलोकऋणानि मत्वा तत्रैव वैराग्यमापन्नो विचारयामास ॥

पश्चात् मुख्य मंत्री राजाके चरणोंमें गिर गया । हे देव ! मेरा अपराध क्षमा करना । एक समय धारानगरेश राजा भोज महलकी छतपर सोता था, अवसर जानकर कोई चोर ब्राह्मण सुरंग लगाकर राजाके खजानेमें प्रविष्ट होकर बहुत अनेक प्रकारके वैडूर्य आदि रत्न हरकर तिन सबोंको परलोकका ऋण मानकर तहांही वैराग्यको प्राप्त होकर विचार करता भया ॥

बद्धयंगाः कुष्ठिनश्चांधाः पंगवश्च दरिद्रिणः ॥

पूर्वोपार्जितपापस्य फलमश्नंति देहिनः ॥ १९७ ॥

अंगभंग, कुष्ठी, अंधा, पांगला, दरिद्री ये संपूर्ण पूर्व इकट्ठे किये पापके फलको प्राणी भोगते हैं ॥ १९७ ॥

ततो राजा निद्राक्षये दिव्यशयनस्थितो विविधमणिकंकणालंकृतं दयितवर्गं दर्शनीयमालोक्य गजतुरगरथपदातिसामग्रीं च चिंतयन् राज्यसुखसंतुष्टः प्रमोदभरादाह ॥

पश्चात् राजाकी निद्रा दूर हुए पीछे सुंदर शय्यापर स्थित हुआ वह राजा भोज अनेक प्रकारके मणिकंकणोंसे अलंकृत देखनेके योग्य दयितवर्गको (रानियोंको) देखकर और हस्ती, घोडा, रथ, प्यादा सामग्रीको चिंतवन करता हुआ और राज्यसुखसे प्रसन्न हुआ आनंदके भरसे कहने लगा ॥

चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः ।
सद्बांधवाः प्रणयगर्भगिरश्च भृत्याः ॥
वल्गंति दंतिनिवहास्तरलास्तुरंगाः ।

चित्तको हरनेवाली मेरे स्त्री हैं और मित्र अनुकूल हैं, बांधव श्रेष्ठ हैं, नौकर नम्रवाणीवाले हैं, हस्ती शब्द करते हैं घोडे बडे चंचल हैं ॥

इति चरणत्रयं राज्ञोक्तम्। चतुर्थचरणं राज्ञो मुखान्न निस्सरति तदा चोरेण श्रुत्वा पूरितम् ॥

ऐसे तीन चरण राजाने कहे। चौथा चरण मात्र राजाके मुखसे नहीं निकसा तभी चोरने सुनकर पूर्ण कर दिया कि ॥

संमीलने नयनयोर्नहि किंचिदस्ति ॥ १९८ ॥

नेत्र जब मींच गये अर्थात् मृत्यु आ गया तब कुछभी नहीं है ॥ १९८ ॥

ततो ग्रंथितग्रंथो राजा चोरं वीक्ष्य तस्मै वीरवलयमदात् ॥ ततस्तस्करो वीरवलयमादाय ब्राह्मणगृहं गत्वा शयानं ब्राह्मणमुत्थाप्य तस्मै दत्त्वा प्राह । विप्र एतद्राज्ञः पाणिवलयं बहुमूल्यं अल्पमूल्येन न विक्रेयम् । ततो ब्राह्मणः पण्यवीथ्यां तद्विक्रीय दिव्यभूषणानि पट्टदुकूलानि च जग्राह । ततो राजकीयाः केचन एनं चोरं मन्यमाना राज्ञो निवेदयंति । ततो राजनिकटे नीतः राजा पृच्छति विप्र धार्यं पटमपि नास्ति अद्य प्रातरेव दिव्यकुंडलाभरणपट्टदुकूलानि कुतः । विप्र प्राह ॥

पश्चात् श्लोक पूर्ण हुएको राजा जानकर और चोरको देखकर तिसको वीरकंकण देता भया । फिर वह चोर वीरकंकणको लेकर ब्राह्मणके घर जाय सोते ब्राह्मणको जगाय तिसको देकर कहने लगा । ब्राह्मण ! यह राजाका कंकण बहुत मूल्यका है सो थोडे मूल्यमें नहीं बेचना । पश्चात् ब्राह्मण तिसको बाजारमें बेचकर सुंदर आभूषण, पाट, रेशमके वस्त्र खरीदता भया । पश्चात् राजाके कितनेक आदमी इस ब्राह्मणको चोर जानकर राजाके आगे आकर कहते भये । पश्चात् तिसको राजाके पास लाये । राजा पूंछने लगा कि, हे ब्राह्मण ! धारने योग्य वस्त्रभी नहीं थे आज प्रातःकालही सुंदर कुंडल आभूषण पाट वस्त्र रेशमीवस्त्र कहांसे आये । ब्राह्मण बोला ॥

भेकैः कोटरशायिभिर्मृतमिव क्ष्मांतर्गतं कच्छपैः ।
पाठीनैः पृथुपंकपीठलुठनाद्यस्मिन् मुहुर्मूर्छितम् ॥
तस्मिन् शुष्कसरस्यकालजलदेनागत्य तच्चेष्टितं ।
यत्राकुंभनिमग्नवन्यकरिणां यूथैः पयः पीयते ॥१९९॥

जहां मेंडक मरोंकी तरह खरखोंढरोंमें पडे थे और कछुवा पृथ्वीमें पड रहा था और मच्छी करडी गारामें लोटती मूर्छाको प्राप्त हो रही थी। ऐसे सूखे सरोवर विषे अकालमेघने आकर वर्षा करी तब वे संपूर्ण चेष्टा करने लग गये और वनके हस्तियोंका समूह स्नान करके जल पीने लगा ॥ १९९ ॥

तुष्टो राजा तस्मै वीरवलयं चोरप्रदत्तं निश्चित्य स्वयं च लक्षं ददौ अन्यदा कोपि कवीश्वरः विष्णवाख्यो राजद्वारि समागत्य तैः प्रवेशितो राजानं दृष्ट्वा स्वस्तिपूर्वकं प्राह ॥

(ऐसे सुन) प्रसन्न हुआ राजा तिसको चोरने दिया हुआ कंकण जानकर आप लाख रुपैये देता भया। एक समयमें कोई विष्णुनामवाला कवीश्वर राजद्वारपर आया, फिर द्वारपालोंने भीतर प्राप्त किया राजाको देखकर स्वस्तिपूर्वक कहने लगा ॥

धाराधीश धरामहेंद्रगणनाकौतूहली यामयं ।
वेधास्त्वद्गणनां चकार खटिकाखंडेन रेखां दिवि ॥
सैवेयं त्रिदशापगा समभवत्त्वत्तुल्यभूमीधरा- ।
भावात्तत्त्यजति स्म सोयमवनीपीठे तुषाराचलः२००

हे धारानगरीके पति भोजराज ! पृथ्वीके महान् राजाओंकी गिनती करनेका आश्चर्यवाला ब्रह्माजी खडियाके टुकडेसे आकाशमें आपके नामकी जो लकचीर खींचता भया वही तो यह आकाशवाहिनी गंगाजी हो गई । फिर पृथ्वीपर तुम्हारी बराबर कोईभी नहीं दीखा तब ब्रह्माजीने वह खडियाका टुकडा भूमिपर पटक दिया वही यह हिमाचल पर्वत भया है । खडियाभी श्वेत होती है हिमालय श्वेत पर्वत है ॥ २०० ॥

राजा लोकोत्तरं श्लोकमाकर्ण्य किं देयमिति व्यचिंतयत् । तस्मिन्क्षणे तदीयकवित्वमप्रतिद्वंद्वमाकर्ण्य सोमनाथाख्यकवेर्मुखं विच्छायमभवत् । ततस्स दौष्ट्याद्राजानं प्राह । देवासौ सुकविर्भवति परमनेन न कदापि वीक्षितास्ति राजसभा । यतो दारिद्र्यवारिधिरयम् । अस्य च जीर्णमपि कौपीनं नास्ति । ततो राजा सोमनाथं प्राह ॥

राजा लोकोत्तर ऐसे श्लोकको सुनकर क्या देना चाहिये ऐसे चिंतन करता भया । तिस क्षणमें बहुत सुंदर तिसकी कविताको सुनकर सोमनाथ कविका मुख लज्जित होता भया । पश्चात् वह सोमनाथ खोटेपनसे राजाको कहने लगा । हे देव ! यह कवि तो सुंदर है परंतु इसने कभी राजसभा नहीं देखी है ! इसवास्ते यह दरिद्रका समुद्र है । इसके पुरानाभी कौपीन नहीं । फिर राजा सोमनाथको कहने लगा ॥

निरवद्यानि पद्यानि यद्यनाथस्य का क्षतिः ॥
भिक्षुणा कक्षनिक्षिप्तः किमिक्षुर्नीरसो भवेत् ॥ २०१ ॥

जो श्लोक सुंदर है तो इस अनाथकी क्या हानि है। क्योंकि जो ईखका गंडा भिक्षुने कांखमें ले लिया तो रसरहित हो जावेगा ? (नहीं होवेगा) ॥ २०१ ॥

ततः सर्वेभ्यः तांबूलं दत्त्वा राजा सभाया उदतिष्ठत् । सर्वैरप्यन्योन्यमित्यभिधायि । अद्य विष्णुकवेः कवित्वमाकर्ण्य सोमनाथेन सम्यग्दौष्ट्यमकारि। ततः समुत्थिता विद्वत्परिषत् । ततो विष्णुकविरेकं पद्यं पत्रे लिखित्वा सोमनाथकविहस्ते दत्त्वा प्रणम्य गंतुमारभत । अत्र सभायां त्वमेव चिरं नंद । ततो वाचयति सोमनाथकविः ॥

पश्चात् संपूर्णोंको पानकी बीडी देकर राजा उठता भया। संपूर्णोंने आपसमें यह कहा कि आज विष्णुकविकी कविताको सुनकर सोमनाथने बहुत दुष्टता की। पश्चात् विद्वानोंकी सभा खडी हो गई। पश्चात् विष्णुकवि एक श्लोक पत्रपर लिखकर सोमनाथकविके हाथमें देकर और नमस्कार करके जानेको मनोरथ करता भया कि, यहां सभामें तुमहीं बहुतकाल प्रसन्न होकर बसो। पश्चात् सोमनाथकवि श्लोक बांचता भया ॥

एतेषु हा तरुणमारुतधूयमान-
दावानलैः कवलितेषु महीरुहेषु ॥

अंभो न चेज्जलद मुंचसि मा विमुंच ।
वज्रं पुनः क्षिपसि निर्दय कस्य हेतोः ॥२०२॥

हे मेघ ! बडे खेदकी बात है तेज पवनकरके धमा हुआ दावानल तिसकरके ग्रास किये जो ये वृक्ष हैं तिनविषैं जो जल नहीं छोडता है तो मत छोड फिर हे निर्दय मेघ ! तू वज्रभी किसवास्ते छोडता है ॥ २०२ ॥

ततः सोमनाथकविः निखिलामपि पट्टदुकूलवित्त-हिरण्मयीं तुरंगमादिसंपत्तिं कलत्रवस्त्रावशेषं दत्तवान् ततो राजा मृगयारसप्रवृत्तो गच्छन् तं विष्णुकविमालोक्य व्यचिंतयत् । मया अस्मै भोजनमपि न प्रदत्तम् । मामनादृत्य अयं सपत्तिपूर्णः स्वदेशं प्रति यास्यति । पृच्छामि विष्णुकवे कुतः संपत्तिः प्राप्ता । कविराह ॥

पश्चात् सोमनाथ कवि संपूर्ण पाट रेशमके वस्त्र द्रव्य, सुवर्ण आदि घोडा आदि, संपूर्ण संपत्ति, तिस कविके वास्ते देकर केवल स्त्रीवस्त्र अवशेष रखता भया । पश्चात् राजा शिकाररसमें प्रवृत्त हुआ चलता हुआ तिस विष्णुकविको देखकर चिंतवन करता भया कि मैं इसको भोजनभी न दिया । (और) यह मेरा अनादर कर संपत्तिसे पूर्ण हुआ यह अपने देशको जाता है । राजाने कहा कि, हे विष्णुकवे ! मैं पूंछता हूं यह संपत्ति कहांसे प्राप्त हुई ? कवि कहने लगा ॥

सोमनाथेन राजेंद्र देव त्वद्गुणभिक्षुणा ॥
अद्य शोच्यतमे पूर्णे मयि कल्पद्रुमायितम् ॥ २०३ ॥

हे देव! हे राजेन्द्र!! तुम्हारे गुणोंका भिक्षु सोमनाथ-कविने मेरे दरिद्रीविषें कल्पवृक्षकी तरह वांछित फल दिया॥

राजा पूर्वं सभायां श्रुतस्य श्लोकस्य अक्षरलक्षं ददौ। सोमनाथेन च यावद्दत्तं तावदपि सोमनाथाय दत्तवान्। सोमनाथः प्राह॥

राजाने जो पहले सभामें श्लोक सुना था उसके अक्षर २ प्रति लाख लाख रुपैये दिये और सोमनाथने जो विष्णु-कविके वास्ते दिया था सो सोमनाथको देता भया। सोम-नाथ कहने लगा॥

किसलयानि कुतः कुसुमानि वा।
क्व च फलानि तथा वनवीरुधाम्॥
अयमकारणकारुणिको यदा।
न तरतीह पयांसि पयोधरः॥ २०४॥

जब विनाकारण दया करनेवाला यह मेघ यहां जल नहीं छोडेगा तब वनके वेल वृक्षोंके कहां पत्ते, कहां पुष्प, और कहां फल लगेंगे॥ २०४॥

ततो विष्णुकविः सोमनाथदत्तेन राज्ञा दत्तेन च तुष्टवान्। तदा सीमंतकविः प्राह॥

पश्चात् विष्णुकवि सोमनाथका दिया हुआ और राजाका दिया हुआ करके प्रसन्न होता भया। पश्चात् सीमंतकवि कहने लगा॥

वहति भुवनश्रेणीं शेषः फटाफलकस्थितां।
कमठपतिना मध्येपृष्ठं सदा स च धार्यते॥

तमपि कुरुते क्रोडाधीनं पयोनिधिरादरा- ।
दहह महतां निस्सीमानश्चरित्रविभूतयः ॥ २०९ ॥

शेषजी फणके एकदेशमें स्थित हुई भुवनपंक्तिको धारण करते हैं और कच्छपजी सदा तिस शेषको पीठपर धारण करते हैं और तिस कच्छपको समुद्र आदरसे उदरमें गेर लेता है। अहह बडे आनंदकी बात है कि महज्जनोंकी अपार विभूति हैं ॥ २०९ ॥

कदाचित्सौधतले राजानमेत्य भृत्यः प्राह । देव अखिलेष्वपि कोशेषु यद्वित्तजातमस्ति, तत्सर्वं देवेन कविभ्यो दत्तम् । परंतु कोशगृहे धनलेशोपि नास्ति । कोपि कविः प्रत्यहं द्वारि तिष्ठति । इतः परं कविर्विद्वान् वा कोपि राज्ञे न प्राप्य इति मुख्यामात्येन देवसन्निधौ विज्ञापनीयमित्युक्तम् । राजा कोशस्थं सर्वं दत्तमिति जानन्नपि प्राह । अद्य द्वारस्थं कविं प्रवेशय । ततो विद्वानागत्य स्वस्तीति वदन् प्राह ॥

किसी समय महलके नीचे राजाको प्राप्त होकर भृत्य कहने लगा । हे देव ! संपूर्णभी खजानोंके विषे जो द्रव्य था, सो संपूर्ण सरकारने कवियोंको दे दिया । परंतु खजानेमें धनका लेशभी नहीं । कोई कवि दिन २ प्रति द्वारपर खडा रहता है । इससे आगे कोईभी कवि विद्वान् राजाके पास नहीं जाने देना ऐसे मुख्यमंत्रीने कहा है कि यह राजाको अरज कर दो । फिर राजा भोज, खजानेके संपूर्ण

द्रव्यको दिया यह जानता हुआभी कहने लगा। द्वारपर स्थित कविको अभी भेजो। इसके अनंतर कोई विद्वान् आकर 'स्वस्ति' ऐसे बोलता हुआ कहने लगा॥

नभसि निरवलंबे सीदता दीर्घकालं।
त्वदभिमुखविसृष्टोत्तानचंचूपुटेन॥
जलधर जलसारो दूरतस्तावदास्तां।
ध्वनिरपि मधुरस्ते न श्रुतश्चातकेन॥ २०६॥

विना स्थानका आकाशविषे बहुतकालसे दुःख पाता हुआ और तेरे सन्मुख करा है चंचूपुट जिसने ऐसे पपीहाने हे जलधर! तेरी मीठी वाणीभी नहीं सुनी। जलकी बूंद तो तावत् दूर रहो॥ २०६॥

राजा तदाकर्ण्य धिग्जीवितं यद्विद्वांसः कवयश्च द्वारमागत्य सीदंतीति। तस्मै विप्राय सर्वाण्याभरणान्युत्तार्य ददौ। ततो राजा कोशाधिकारिणमाहूयाह। भांडारिक मुंजराजस्य तथा मे पूर्वेषां च ये कोशास्संति तेषां मध्ये रत्नपूर्णान्कलशानानय। ततः काश्मीरदेशान्मुचुकुन्दकविरागत्य स्वस्तीत्युक्त्वा प्राह॥

राजा ऐसे सुनकर विचारने लगा कि जीवना धिक्कार है क्योंकि विद्वान् और कवि द्वारपर आकर दुःख पाते हैं। तिस ब्राह्मणको संपूर्ण गहना उतारकर राजा देता भया। पश्चात् राजा खजानचीको बुलाकर कहने लगा। हे भांडारिक! मुंजराजाका अथवा मेरे पूर्वजोंका जो खजाना है

तिन्होंमेंसे रत्नके भरे कलसे लावो । पश्चात् काश्मीरदे-
शसे मुचुकुंद कवि आकर और ' स्वस्ति ' ऐसे आशीर्वाद
देकर कहने लगा ॥

त्वद्यशोजलधौ भोज निमज्जनभयादिव ॥
सूर्येंदुबिंदुमिषतो धत्ते कुंभद्वयं नभः ॥ २०७ ॥

हे भोज ! तुम्हारे यशरूप समुद्रमें डूबनेके भयसे यह
आकाश,सूर्य,चंद्रमाके मिससे दो घडे धारण करता है २०७

राजा तस्मै प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ । पुनः कविराह ॥

राजा तिस कविको श्लोकके अक्षर अक्षर प्रति लाख
लाख रुपैये देता भया । फिर कवि कहने लगा ॥

आसन् क्षणानि यावंति चातकाश्रूणि तेंबुदे ॥
तावंतोपि त्वयोदार न मुक्ता जलबिंदवः ॥ २०८ ॥

हे मेघ ! तुमने बूंद गेरनेमें जितनी देर की है पपीहाके
उतनीही आंसू पडी हैं सो हे उदार मेघ ! तुमने आंसुओं
कितनीभी जलबिंदु नहीं छोडी ॥ २०८ ॥

ततस्स राजा तस्मै शततुरगानपि ददौ ततो भां-
डारिको लिखति ॥

पश्चात् वह राजा तिसको सौ (१००) घोडेभी देता
भया । पश्चात् खजानचीने धर्मपत्रमें लिखा ॥

मुचुकुंदाय कवये जात्यानश्वान् शतं ददौ ॥
भोजः प्रदत्तलक्षोपि तेनासौ याचितः पुनः॥२०९

भोजराजाने श्लोकके अक्षरों प्रति लाख लाख रुपैये देके

दिये थे परंतु कविने जब राजा फिर जांचा तब सुंदर सौ घोडे मुचुकुंदकविको फिर देता भया ॥ २०९ ॥

ततो राजा सर्वानपि वेश्म प्रेषयित्वांतर्गच्छति । ततो राज्ञश्चामरग्राहिणी प्राह ॥

पश्चात् राजा संपूर्णोंको घर भेजकर महलोंमें गये । पश्चात् राजाकी दासी चमर करनेवाली कहने लगी ॥

राजन्मुंजकुलप्रदीप सकलक्ष्मापालचूडामणे ।
युक्तं संचरणं तवाद्भुतमणिच्छत्रेण रात्रावपि ॥
मा भूत्त्वद्वदनावलोकनवशाद्व्रीडाविनम्रः शशी ।
मा भूच्चेयमरुंधती भगवती दुश्शीलताभाजनम् २१०

हे राजन् ! हे मुंजकुलमें दीपकरूप ! हे संपूर्ण राजाओंके चूडामणिरूप ! तुम्हारे अद्भुतमणियोंवाले छत्रकरके रात्रिको चलना योग्यही है क्योंकि तुम्हारे मुखका देखना करके चंद्रमा लज्जाके वश हुआ नम्र मत हो और यह भगवती अरुंधती दुःशीलताका पात्र मत हो ॥ २१० ॥

राजा तस्यै प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ । अन्यदा कुंडिननगराद्गोपालो नाम कविरागत्य स्वस्तिपूर्वकं प्राह ॥

राजा तिस दासीको अक्षर अक्षर प्रति लाख लाख रुपैये देता भया । एक समयमें कुंडिननगरसे गोपालनाम कवि आकर ' स्वस्ति ' पूर्वक कहने लगा ॥

त्वच्चित्ते भोज निर्यातं द्वयं तृणकणायते ॥
क्रोधे विरोधिनां सैन्यं प्रसादे कनकोच्चयः ॥ २११ ॥

हे भोज ! तुम्हारे चित्तमें रचित दो वस्तु तृण और कणकी तरह आचरण करती हैं । तुम्हारे क्रोधमें शत्रुओं-की सेना तृणकी तरह आचरण करती है और तुम्हारी प्रसन्न-तामें सुवर्णका पर्वत कणकी तरह आचरण करता है॥२११

राजा श्रुत्वापि तुष्टो न दास्यति । राजपुरुषैः सह चर्चां कुर्वाणस्तिष्ठति । ततः कविर्व्यचिंतयत् । किमु राज्ञा नाश्रावि । ततः क्षणेन समुन्नतमेघमवलोक्य राजानं कविराह ॥

राजा श्लोकको सुनकरभी प्रसन्न हुआ, न कुछ दिया । अपने मंत्रियोंके साथ चर्चा करता स्थित रहा । पश्चात् कवि विचारता भया कि क्या राजाने नहीं सुना । पश्चात् क्षणमें राजाको मेघको समुन्नत देखकर कवि कहने लगा ॥

हे पाथोद यथोन्नतं हि भवतां दिग्व्यावृता सर्वतो ।
मन्ये धीर तथा करिष्यसि खलु क्षीराब्धितुल्यं सरः ॥
किं त्वेष क्षमते नहि क्षणमपि ग्रीष्मोष्मणा व्याकुलः ।
पाठीनादिगणस्त्वदेकशरणस्तद्वर्ष तावत्कियत् २१२

हे मेघ ! जैसे बढकर और दिशाओंको व्याप्त होकर स्थित है ऐसेही हे धीर ! निश्चय संपूर्ण पृथ्वीपर दुग्धसमु-द्रकी तरह सरोवरको करेगा यह मैं जानता हूं । परंतु ग्रीष्म ऋतुकी गरमीसे व्याकुल हुआ और तू एक है आश्रय जि-सका ऐसा यह मीन आदि जीवसमूह इस दुःखको नहीं सह सकता है । इसवास्ते आदिमें कुछ तो वर्षा करो ॥ २१२ ॥

राजा कविहृदयं विज्ञाय गोपालकवे दारिद्र्याग्निना नितांतं दग्धोसीति वदन् षोडश मणीननर्घ्यान् षोडश दंतींद्रांश्च ददौ । एकदा राजा धारानगरे विचरन् क्वचिच्छिवालये प्रसुतं पुरुषद्वयमपश्यत् । तयोरेको विगतनिद्रो वक्ति । अहो त्वं ममाऽन्तरासन्न एव कस्त्वं प्रसुप्तोसि जागर्षि नो वा । ततस्त्वपर आह विप्र प्रणतोस्मि अहमपि ब्राह्मणपुत्रः त्वामत्र प्रथमरात्रौ शयानं वीक्ष्य प्रदीप्ते च प्रदीपे कमंडलूपवीतादिभिर्ब्राह्मणं ज्ञात्वा भवदान्तरासन्न एवाहं प्रसुप्तः । इदानीं त्वद्गिरमाकर्ण्य प्रबुद्धोऽस्मि । प्रथमः प्राह । वत्स यदि त्वं प्रणतोसि ततो दीर्घायुस्तव । वद कुत आगम्यते किं ते नाम अत्र च किं कार्यम् । द्वितीयः प्राह । विप्र भास्कर इति नाम । पश्चिमसमुद्रतीरे प्रभासतीर्थसमीपे वसतिर्मम । तत्र भोजस्य वितरणं बहुभिर्व्यावर्णितं ततो याचितुमहमागतः । त्वं मम वृद्धत्वात्पितृकल्पोसि । त्वमपि वद । स आह । वत्स शाकल्य इति मे नाम । मया एकशिलानगर्या आगम्यते भोजं प्रति द्रविणाशया । वत्स त्वयानुक्तमपि दुःखं त्वयि ज्ञायते । कीदृशं तद्वद ततो भास्करः प्राह तात किं ब्रवीमि दुःखम् ॥

राजा कविके हृदयको जानकर कहने लगा कि, हे गोपालकवे ! तू दारिद्र्याग्निकरके निरंतर दग्ध हो रहा है ऐसे

कहता हुआ राजा तिस कविको बहुत मूल्यकी सोलह मणि देता भया और सोलह अच्छे हस्ती देता भया। एक समय धारानगरीमें विचरता हुआ राजा कहीं शिवालयमें सोते हुए दो पुरुषोंको देखता भया। तिन्होंमें एक जागकर कहने लगा। अहो! तू मेरे बिस्तरके नजीकही कौन सोता है जागता है या नहीं। पश्चात् दूसरा कहने लगा। हे ब्राह्मण! तुमको मैं नमस्कार करता हूं और मैंभी ब्राह्मणका पुत्र हूं, तुमको यहां प्रथम रात्रिमें सोता देखकर और जलता हुआ दीपक देखकर और लोटा जनेऊ आदि करके ब्राह्मण जानकर तुम्हारे बिस्तरके नजीक सो गया। अब तुम्हारी वाणी सुनकर जागा हूं। प्रथम ब्राह्मण कहने लगा। हे वत्स! जो तैंने नमस्कार करी इसवास्ते तेरी आयु बडी हो। कहो, कहांसे आये, क्या तुम्हारा नाम है, यहां क्या कार्य है? दूसरा ब्राह्मण कहने लगा। हे विप्र! भास्कर मेरा नाम है। पश्चिमसमुद्रके तीरमें प्रभासतीर्थके नजीक मेरी वसति है। वहां बहुतोंकरके वर्णन किये हुए भोजका दान सुनकर तहांसे याचना करनेको आया हूं। तुम बडे होनेसे मेरे पिताके समान हो। तुमभी कहो। सो कहने लगा। हे वत्स! मेरा शाकल्य नाम है। और एकशिला नगरीसे भोजके प्रति द्रव्यकी आशा करके आया हूं। हे वत्स! तेरा नहीं कहाभी दुःख तेरे मांह जानिये है। सो क्या दुःख है कहो। पश्चात् भास्कर कहने लगा। हे तात! क्या दुःख कहूं॥

क्षुत्क्षामाः शिशवः शवा इव भृशं मंदाशया बांधवा ।
लिप्ता जर्जरघर्घरी जतुलवैर्नो मां तथा बाधते ॥
गेहिन्या त्रुटितांशुकं घटयितुं कृत्वा सकाकु स्मितं ।
कुप्यंती प्रतिवेश्मलोकगृहिणी सूचिं यया याचिता ॥

भूखसे अति दुबले हुए बालक तो मुरदोंकी तरह हो रहे हैं और बांधव मेरी तरफसे मन चुराय रहे हैं और फूटी घागर कलशा लाखके टुकडोंसे समार रक्खी है, दारिद्र्यसे मेरी ऐसी दशा होनेपरभी मेरेको दुःख नहीं; परंतु फटे हुए वस्त्र सीमनेको घर घर जो सुई मांगनेको गई हुई मेरी स्त्रीको गांवकी स्त्री कटाक्षसे मंदहास करके कुपित होती भई यह दुःख मेरेको मारता है ॥ २१३ ॥

राजा श्रुत्वा सर्वाभरणान्युत्तार्य तस्मै दत्त्वा प्राह ।
भास्कर सीदंत्यतीव ते बालाः झटिति देशं याहि ।
ततः शाकल्यः प्राह ॥

राजा सुनकर संपूर्ण आभूषण उतारकर तिस ब्राह्मणको देकर कहने लगा । हे भास्कर ! तेरे बालक बहुत दुःख पाते हैं तुम जल्दी देशको जाओ । पश्चात् शाकल्य कहने लगा ॥

अत्युद्धता वसुमती दलितोरिवर्गः ।
क्रोडीकृता बलवता बलिराजलक्ष्मीः ॥
एकत्र जन्मनि कृतं यदनेन यूना ।
जन्मत्रये तदकरोत्पुरुषः पुराणः ॥ २१४ ॥

इस जवान राजा भोजने पृथिवी उद्धृत कर दी (जैसे

वाराह आदि अवतारोंसे उद्धार किया था तैसे) और शत्रु-वर्ग दलित कर दिया और बलिकी राजलक्ष्मी छीन लई ऐसे विष्णुके तीन जन्मोंके किये हुए कर्मको यह भोज एक जन्म विषेही करता भया ॥ २१४ ॥

ततो राजा शाकल्याय लक्षत्रयं दत्तवान् । अन्यदा राजा मृगयारसेन विचरन् तत्र पुरस्समागतहारिण्यां बाणेन विद्धायामपि वित्ताशया कोपि कविराह ॥

पश्चात् राजा शाकल्यको तीन लाख रुपैये देता भया । एक समय राजा शिकारके रससे विचरता हुआ तहां आगे आई किसी हिरणीको बाणसे बींधे संतेभी द्रव्याशा करके कोई कवि कहने लगा ॥

श्रीभोजे मृगयां गतेपि सहसा चापे समारोपितेऽ-।
प्याकर्णान्तगतेपि मुष्टिगलिते बाणेऽगलग्नेपि च ॥
स्थानान्नैव पलायितं न चलितं नोत्कंपितं नोत्प्लुतं ।
मृग्या मद्वशगं करोति दयितं कामोयमित्याशया २१५

श्रीभोज शिकारको प्राप्त होके तबभी और तत्काल बाण चढाया पीछेभी और कानपर्यंत खेंचा संतेभी और मूठसे बाण छोडे पीछेभी और बाण अंगमें लगे पीछेभी यह मृगी इस आशाकरके न तो स्थानसे भागी, न चली, न कंपी, न कूदी कि यह कामदेव है और प्रियको मेरे वशमें करता है अर्थात् राजाका रूप कामदेवके समान मानके मोहित हो गई ॥ २१५ ॥

राजा तस्मै लक्षत्रयं प्रयच्छति । अन्यदा सिंहासनमलंकुर्वाणे श्रीभोजनृपतौ द्वारपाल आगत्य प्राह । देव जाह्नवीतीरवासिनी काचन वृद्धब्राह्मणी विदुषी द्वारि तिष्ठति । राजा प्राह प्रवेशय । तत आगच्छंतीं राजा प्रणमति । सा तं चिरंजीवेत्युक्त्वाह ॥

राजा तिस कविको तीन लाख रुपये देता भया । एक दिन श्रीभोजराजा सिंहासनपर बैठा था तब द्वारपाल आकर कहने लगा । हे देव ! गंगाजीके तीरपर बसनेवाली कोई ब्राह्मणी पढी हुई द्वारपर खडी है । राजा कहने लगा आने दो । पश्चात् आती हुईको राजाने प्रणाम किया । सो ब्राह्मणी तिस राजाको 'चिरंजीव' यह कहकर श्लोक कहने लगी ॥

भोजप्रतापाग्निरपूर्व एष ।
जागर्ति भूभृत्कटकस्थलीषु ॥
यस्मिन् प्रविष्टे रिपुपार्थिवानां ।
तृणानि रोहंति गृहांगणेषु ॥ २१६ ॥

यह भोजका प्रतापरूप अपूर्व अग्नि पर्वतोंके कटक स्थल विषें जाग रहा है जिस प्रतापरूप अग्निके प्रविष्ट हुए पश्चात् शत्रु राजाओंके घरके आंगणोंमें तृण जाम आये हैं अर्थात् आपके प्रतापसे सब शत्रु नष्ट हो गये हैं । उनके घरोंमें घास जाम आया है ॥ २१६ ॥

राजा तस्यै रत्नपूर्णं कलशं प्रयच्छति । ततो लिखति भांडारिकः॥

राजा तिस ब्राह्मणीको रत्नोंसे पूर्ण हुआ कलश देता भया । पश्चात् खजानचीने धर्मपत्रपर लिखा कि ॥

भोजेन कलशो दत्तस्सुवर्णमणिसंभृतः ॥
प्रतापस्तुतितुष्टेन वृद्धायै राजसंसदि ॥ २१७ ॥

प्रतापकी स्तुतिने प्रसन्न हुए भोजराजाने राजसभामें सुवर्णमणियोंसे भरा हुआ सुवर्णका कलश वृद्धाको दिया ॥

अन्यदा दूरदेशादागतः कश्चिच्चोरो राजानं प्राह । देव सिंहलदेशे मया कांचन चामुंडालये राजकन्या दृष्टा । सा च मां दृष्ट्वा मालवदेशदेवस्य महिमानं बहुधा श्रुतं त्वमपि वदेति पप्रच्छ । मया च तस्या देवगुणा व्यावर्णिताः सा चात्यंततोषाच्चंदनतरोर्निरुपमं गर्भखंडं दत्त्वा यथास्थानं प्रपेदे । देव गुणाभिवर्णनप्राप्तं तदेतद्गृहाण । एतत्प्रसृतपरिमलभरणे भृंगा भुजंगाश्च समायांति । राजा तद्गृहीत्वा तुष्टस्तस्मै लक्षं दत्तवान् । ततो दामोदरकविस्तन्मिषेण राजानं स्तौति ॥

एक समय दूर देशसे आया हुआ कोई चोर राजाको कहने लगा । हे देव ! सिंहलदेशमें देवीके भवनमें कोई मैंने राजकन्या देखी है । सो मेरेको देखकर यह पूंछने लगी कि मालवदेशके राजाकी महिमा बहुत प्रकारसे सुनी है सो तूभी कह । हे देव ! मैंने तिसके आगे गुण वर्णन कर दिये । पश्चात् वह अत्यंत आनंदसे चंदनवृक्षका सुंदर बीचका टुकडा देकर अपने स्थानमें प्राप्त होती भई । हे देव ! आपके गुण-

वर्णनसे प्राप्त हुए इस चंदनको आपही ग्रहण करो । देखो इसकी फैली हुई सुंदर सुगंधिविषें भौंहरे और सर्प आते हैं । राजा तिसको ग्रहण कर प्रसन्न हो तिसको लाख रुपैये देता भया । पश्चात् दामोदरकवि तिस मिषकरके राजाकी स्तुति करने लगा ॥

श्रीमच्चंदनवृक्ष संति बहवस्ते शाखिनः कानने ।
येषां सौरभमात्रकं निवसति प्रायेण पुष्पश्रिया ॥
प्रत्यंगं सुकृतेन तेन शुचिना ख्यातः प्रसिद्धात्मना ।
योऽसौ गंधगुणस्त्वया प्रकटितः क्वासाविह प्रेक्ष्यते ॥

हे श्रीमन् ! हे चंदनवृक्ष ! ! वनमें ऐसे वृक्ष बहुतसे हैं कि जिन्होंके पुष्पोंकरके सुगंध बसती है और जो यह गंध-गुण तैंने प्रकट किया है सो तिस पवित्र सुकृतकरके प्रसिद्ध आत्माकरके आपके संपूर्ण अंगमें विख्यात है सो आप यहां किस (परमोत्तम) को देखते हो ॥ २३८ ॥

राजा स्वस्तुतिं बुद्ध्वा लक्षं ददौ । ततो द्वारपाल आगत्य प्राह । देव काचित्सूत्रधारी स्त्री द्वारि वर्तते । राजाह प्रवेशय । ततस्सागत्य राजानं प्रणिपत्याह ॥

राजा अपनी स्तुति समझकर तिसको लाख रुपैये देता भया । पश्चात् द्वारपाल आकर कहने लगा । हे देव ! कोई सूत्रधारी स्त्री (सूत बेचनेवाली) द्वारपर खडी है । राजा कहने लगा भेजो । सो आकर राजाको नमस्कार करके कहने लगी ॥

बलिः पातालनिलयोधःकृतश्चित्रमत्र किम् ॥
अधःकृतो दिवस्थोपि चित्रं कल्पद्रुमस्त्वया ॥२१९॥

पाताल है स्थान जिसका ऐसा बलि तुमने नीचे कर लिया, इसमें क्या विचित्र है । जो स्वर्गमें स्थित हुआ कल्पवृक्षभी तुमने नीचे कर लिया ॥ २१९ ॥

राजा तस्यै प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ ततः कदाचिन्मृगयापरिश्रांतः राजा क्वचित्सहकारतरोरधस्तात्तिष्ठति स्म । तत्र मल्लिनाथाख्यकविरागत्य प्राह ॥

राजा तिसको अक्षर अक्षर प्रति लाख लाख रुपैये देता भया । पश्चात् किसी समयमें राजा शिकारमें थका हुआ कहीं आमके वृक्षके नीचे बैठता भया । तहां मल्लिनाथ कवि आकर कहने लगा ॥

शाखाशतशतवितताः ।
संति कियतो न कानने तरवः ॥
परिमलभरामिलदलिकुल- ।
दलितदलाः शाखिनो विरलाः ॥२२० ॥

सौ सौ शाखाओंके विस्तारवाले वृक्ष वनमें कितनेक नहीं हैं अर्थात् बहुत हैं परंतु सुगंधिभारसे मिला जो भ्रमरकुल तिससे दलित हैं दल जिन्होंके ऐसे सुगंधिवाले वृक्ष बहुत कम हैं ॥ २२० ॥

ततो राजा तस्मै हस्तवलयं ददौ । तत्रैव आसीने राज्ञि कोपि विद्वानागत्य स्वस्तीत्युक्त्वा प्राह ।

राजन्, काशीदेशमारभ्य तीर्थयात्रया परिभ्राम्यते दक्षिणदेशवासिना मया । राजा त्वादृशां तीर्थवासिनां दर्शनात्कृतार्थोस्मि । स आह । वयं मांत्रिकाश्च । राजा विप्रेषु सर्वं संभाव्यते । राजा पुनः प्राह । मंत्रविद्यया यथा परलोकफलप्राप्तिः तथा किमिह लोकेप्यस्ति । विप्रः । राजन् सरस्वतीचरणाराधनाद्विद्यावाप्तिर्विश्वविदिता परं धनावाप्तिर्भाग्याधीना ॥

पश्चात् राजा तिसको हाथका कंकण देता भया । राजा तो तिसी जगह स्थित था और कोई विद्वान् आकर 'स्वस्ति' ऐसे आशीर्वाद देकर कहने लगा । हे राजन ! दक्षिणदेशमें रहनेवाला जो मैं हूं सो काशीसे लगाकर तीर्थयात्रामें भ्रमता हूं । राजा कहने लगा कि, तुम्हारे सरीखे तीर्थवासियोंके दर्शनोंसे मैं कृतार्थ हो गया हूं । सो कहने लगा कि, हम मांत्रिक (मंत्र जाननेवाले) हैं । राजा कहने लगा कि, महाराज ! ब्राह्मणोंमें संपूर्ण बन सकता है । राजा फिर कहने लगा । हे ब्राह्मण ! मंत्रविद्याकरके जैसे परलोकफलकी प्राप्ति है तैसे कुछ इस लोकविषैभी है ? ब्राह्मण बोला । राजन् ! सरस्वतीके चरणोंके आराधनसे विद्याकी प्राप्ति जगत्में विख्यात है परंतु धनप्राप्ति भाग्यके आधीन है ॥

गुणाः खलु गुणा एव न गुणा भूतिहेतवः ॥
धनसंचयकर्तॄणि भाग्यानि पृथगेव हि ॥ २२१ ॥

गुण तो गुणही हैं । गुण संपत्तिके कारण नहीं हैं । धनका संचय करनेवाले भाग्य औरही है ॥ २२१ ॥

देव विद्यागुणा एव लोकानां प्रतिष्ठायै भवंति न तु केवलं संपदः । देव ॥

हे देव ! लोकोंकी प्रतिष्ठाके वास्ते विद्यागुणही कहे हैं केवल संपत् नहीं है । हे देव ! सुनो ॥

आत्मायत्ते गुणग्रामे नैर्गुण्यं वचनीयता ॥
दैवायत्तेषु वित्तेषु पुंसां का नाम वाच्यता ॥२२२॥

गुणोंका समूह इस जीवात्माके आधीन है । फिर जो पुरुष गुण ग्रहण नहीं करते उनकी मूर्खताकी निंदा (तकरार) है और जो धन (द्रव्य) दैव (प्रारब्ध) के आधीन हैं उनके नहीं होनेमें (निर्धनकी) क्या निंदा (तकरार) है ॥ २२२ ॥

देव, मंत्राराधनेनाप्रतिहता शक्तिः स्यात् । देव एवं कुतूहलं यस्य । मया यस्य शिरसि करो निधीयते स सरस्वतीप्रसादेन अस्खलितविद्याप्रसारः स्यात् । राजा प्राह । सुमते महती दैवताशक्तिः । ततो राजा कामपि दासीमाकार्य विप्रं प्राह । द्विजवर अस्या वेश्यायाः शिरसि करं निधेहि । विप्रस्तस्याः शिरसि करं निधाय तां प्राह । देवि यद्राजा ज्ञापयति तद्वद । ततो दासी प्राह । देवाहमद्य समस्तवाङ्मयजातं हस्तामलकवत्पश्यामि । देवादिश किं वर्णयामि । ततो राजा पुरः खड्गं वीक्ष्य प्राह । खड्गं मे व्यावर्णयेति । दासी प्राह ॥

हे देव! मंत्रोंका आराधन करके नहीं रुकनेवाली शक्ति हो जाती है। हे देव! तिसका ऐसा आश्चर्य है कि, मैं जिसके शिरपर हाथ रख देता हूं, तिसके सरस्वतीकी कृपाकरके अस्खलित विद्याका प्रसार हो जाता है। राजा कहने लगा। हे सुमते! देवताकी शक्ति बडी है। पश्चात् राजा किसी दासीको बुलाकर ब्राह्मणको कहने लगा। हे द्विजवर! इस वेश्याके शिरपर हाथ धरो। ब्राह्मणने तिसके शिरपर हाथ धरकर तिसको कहने लगा। हे देवि! जो राजा हुकुम करे सो कह। तब दासी कहने लगी। हे देव! मैं अब संपूर्ण वाणीमय शास्त्रको हाथमें आंवलेकी तरह देखती हूं। हे देव! हुकुम दो क्या वर्णन करूं। पश्चात् राजा आगे खड्गको देखकर कहने लगा। मेरे खड्गका वर्णन कर। दासी कहने लगी॥

धाराधर त्वदसिरेष नरेंद्र चित्रं।
वर्षति वैरिवनिताजनलोचनानि॥
कोशेन संगतमसंगतिराहवेऽस्य।
दारिद्र्यमभ्युदयति प्रतिपार्थिवानाम्॥ २२३॥

हे धाराधर! हे नरेन्द्र! यह तुम्हारा खड्ग बडा विचित्र है। शत्रुओंकी स्त्रियोंके नेत्रोंको वर्षावता है। अर्थात् उनके नेत्रोंसे आंशू गिराता है। और युद्धमें कोशसे इसका संगम होना असंगत है। अर्थात् यह खड्ग युद्धभूमिमें मियानमें प्रवेश नहीं होता है और संपूर्ण राजाओंके दारिद्र्य करता है॥ २२३॥

राजा तस्यै रत्नकलशाननर्घ्यान् पंच ददौ। ततस्तस्मिन् क्षणे कुतश्चित् पंच कवयः समाजग्मुः। तानवलोक्य ईषद्विच्छायमुखं राजानं दृष्ट्वा महेश्वरकविः वृक्षमिषेणाह॥

राजा सुनकर इसको अमोले पांच कलश देता भया। पश्चात् तिसी क्षणमें कहींसे पांच कवि आते भये। तिनको देखकर कुछेक शोभारहित मुखवाले राजाको देखकर महेश्वरकवि वृक्षका मिषकरके कहने लगा॥

किं जातोसि चतुष्पथे घनतरच्छायोसि किंछायया।
छन्नश्चेत् फलितोसि किं फलभरैः पूर्णोसि किं संवृतः॥
हे सद्वृक्ष सहस्व संप्रतिचिरं शाखाशिखाकर्षणं।
क्षोभामोटनभंजनानि जनतस्स्वैरेव दुश्चेष्टितैः २२४॥

हे सद्वृक्ष! चतुष्पथ (चौतर्फ) के मार्गमें किसवास्ते जामा है और घनछायावाला किसवास्ते हुआ है और छायाकरकेभी आच्छादित हो गया तो किसवास्ते फला है। और फलभरोंकरके किसवास्ते पूर्ण हुआ है। और जो ऐसा हो गया तो अब अपनीही खोटी चेष्टाओंकरके जनोंसे शाखा शिखाओंका खेंचना और क्रोधसे मोडना, तोडना आदि दुःखको बहुत कालतक सह॥ २२४॥

ततो राजा तस्मै लक्षं ददौ। ततस्ते द्विजवराः पृथक्पृथगाशीर्वचनमुदीर्य यथाक्रमं राजाज्ञया कंबल उपविश्य मंगलं चक्रुः। तत एकः पठति॥

फिर राजा तिसको लाख रुपैये देता भया। तिसके अनंतर वे द्विजवर अलग अलग आशीर्वाद देकर (और) राजाके हुकमसे यथाक्रम कंबलपर बैठकर मंगल करते भये। फिर (तिन्होंमें) एक पढने लगा॥

कूर्मः पातालगंगापयसि विहरतां तत्तटीरूढमुस्ता-।
मादत्तामादिपोत्री शिथिलयतु फणामंडलं कुंडलींद्रः॥
दिङ्मातंगा मृणालीकवलनकलनां कुर्वतां पर्वतेंद्राः।
सर्वे स्वैरं चरंतु त्वयि वहति विभो भोज देवीं धात्रीम्

हे भोज! हे समर्थ! तेरे पृथ्वीके धारण करते हुए कछुवा तो पातालगंगामें क्रीडा करो। वराहावतार तिस गंगाके तटके जामे हुए मोथिया खावो। शेषजी फणामंडलको दूर करके आराम दो। दिशाके हस्ती कमलग्रास करनेमें क्रीडा करो। पर्वतभी दूर हो जावो। (ऐसे) ये संपूर्ण यथेच्छ विचरो॥ २२५॥

राजा चमत्कृतः तस्मै शताश्वान् ददौ। ततो भांडारिको लिखति॥

राजा चमत्कृत हुआ तिसको सौ घोडे देता भया। फिर खजानचीने यह श्लोक लिखा॥

क्रीडोद्याने नरेंद्रेण शतमश्वा मनोजवाः॥
प्रदत्ताः कामदेवाय सहकारतरोरधः॥ २२६॥

राजाने बगीचामें आमके वृक्षके नीचे मनकेसे वेगवाले सौ घोडे कामदेव कविको दिये॥ २२६॥

ततः कदाचिद्भोजो विचारयति स्म। मत्सदृशो वदान्यः कोपि नास्तीति। तद्गर्वं विदित्वा मुख्यामात्यो विक्रमार्कस्य पुण्यपत्रं भोजाय प्रदर्शयामास। भोजस्तत्र पत्रे किंचित् प्रस्तावमपश्यत्। तथाहि विक्रमार्कः पिपासया प्राह॥

फिर किसी समयमें भोज राजा विचार करता भया। कि मेरे सरीखा दातार (और) कोई भी नहीं। मुख्य मंत्री राजा भोजका ऐसा गर्व जानकर राजा विक्रमादित्यका पुण्यपत्र भोजको दिखाता भया। भोज तिस पत्रमें कुछ प्रस्ताव देखता भया। सो यह है कि विक्रमार्क प्यासयुक्त हुआ कहने लगा॥

स्वच्छं सज्जनचित्तवल्लघुतरं दीनार्तिवच्छीतलं।
पुत्रालिंगनवत्तथैव मधुरं तद्बाल्यसंजल्पवत्॥
एलोशीरलवंगचंदनलसत्कर्पूरकस्तूरिका-।
जातीपाटलिकेतकैःसुरभितं पानीयमानीयताम् २२७

सज्जनके चित्तकी तरह स्वच्छ, दीनकी पीडाकी तरह हलका, पुत्रके मिलनेकी तरह ठंढा, बालअवस्थामें पुत्रके बोलनेकी तरह मधुर, इलायची, खस, लौंग, चंदन इन्होंसे शोभित और कपूर, कस्तुरी, मालती, पाटलिका, केतकी इन्होंसे सुगंधित ऐसा पानी लावो॥ २२७॥

ततो मागधः प्राह॥

फिर मागध बोला॥

वक्त्रांभोजं सरस्वत्यभिवसति सदा शोण एषाधरस्ते ।
बाहुः काकुत्स्थवीर्यस्मृतिकरणपटुर्दक्षिणस्ते समुद्रः॥
वाहिन्यः पार्श्वमेताःकथमपि भवतो नैव मुंचंत्यभीक्ष्णं
स्वच्छे चित्ते कुतोऽभूत्कथय नरपते तेंबुपानाभिलाषः

हे नरपते ! तुम्हारे मुखरूप कमलमें तो सदा सरस्वती बसती है । तुम्हारा होंठ शोणनद है । तुम्हारी दहनी भुजा श्रीरामचंद्रजीके वीर्यको स्मृति करानेमें चतुर समुद्र है । और पसवाडेमें ये वाहिनी सेना अथवा नदी किसी समयमें तुमने त्यागीही नहीं है । हे राजन् ! चित्त स्वच्छ होत संते जल पीनेकी अभिलाषा तुम्हारे कैसे हुई ॥ २२८ ॥

ततो विक्रमार्कः प्राह । तथाहि ॥

फिर विक्रमार्क कहने लगे कि यह ठीकही है ॥

अष्टौ हाटककोटयस्त्रिनवतिर्मुक्ताफलानां तुलाः ।
पंचाशन्मधुगंधमत्तमधुपाः क्रोधोद्धता सिंधुराः ॥
अश्वानामयुतं प्रपंचचतुरं वारांगनानां शतं ।
दत्तं पांड्यनृपेण यौतकमिदं वैतालिकायार्प्यताम्२२९

आठ कोटि सुवर्ण, तेरानवे (९३) तुला मोती, मदोन्मत्त और क्रोधमें भरे ऐसे पचास हस्ती, दश हजार घोडा और लीला करनेमें चतुर ऐसी सौ (१००) वेश्या यह इतना दाईज पांड्यराजा (विक्रम) ने दिया है । सो वैतालिकके वास्ते अर्पण करो ॥ २२९ ॥

ततो भोजः प्रथमत एव अद्भुत विक्रमार्कचरित्रं

दृष्ट्वा निजगर्वं तत्याज। ततः कदाचिद्धारानगरे रात्रौ विचरन् राजा कंचन देवालये शीतालुं ब्राह्मणमित्थं पठंतमवलोक्य स्थितः॥

तिसके अनंतर भोज प्रथमहीसे विक्रमार्कका अद्भुत चरित्र देखकर, अपने गर्वको त्यागता भया। फिर कभी धारानगरीमें रातको विचरता हुआ राजा देवस्थानमें जाडेसे व्याकुल हुआ ऐसे पढते हुए ब्राह्मणको देख स्थित हो गया॥

शीतेनाध्युषितस्य माघजलवच्चिंतार्णवे मज्जतः।
शांताग्नेः स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्क्षामकुक्षेर्मम॥
निद्रा काप्यवमानितेव दयिता सत्यज्य दूरं गता।
सत्पात्रप्रतिपादितेव कमला नो हीयते शर्वरी॥२३०॥

माघके जलकी तरह जाडेसे व्याप्त (और) चिंतासमुद्रमें डूबता हुआ शांतअग्निवाला कंपते होठोंवाला अग्निको धमनेवाला, भूखसे सूखा पेटवाला ऐसेकी मेरी निद्रा तिरस्कार करी स्त्रीकी तरह त्यागकर दूर चली गई (और) सत्पात्रकी प्रतिपादन (संचित) करी लक्ष्मीकी तरह रात्रि नहीं क्षीण होती है॥ २३०॥

इति श्रुत्वा राजा प्रातस्तमाहूय पप्रच्छ। विप्र पूर्वेद्यू रात्रौ त्वया दारुणः शीतभारः कथं सोढः। विप्र आह॥

ऐसे सुनकर राजा प्रातःकाल तिसको बुलाकर पूंछता भया कि, हे विप्र! कल रातको तैंने दारुण जाडा कैसे सहा? ब्राह्मण कहने लगा॥

रात्रौ जानुर्दिवा भानुः कृशानुः संध्ययोर्द्वयोः ॥
एवं शीतं मया नीतं जानुभानुकृशानुभिः ॥ २३१ ॥

रातको तने गोडोंसे (अर्थात् गोडोंमें शिर ल्हकोया), दिनमें सूर्यसे (अर्थात् धूपमें बैठकर), दोनों संध्याओंमें अग्निकरके (अर्थात् तपकर) ऐसे गोडा, अग्नि, सूर्य इन्हों करके मैंने जाडा व्यतीत किया ॥ २३१ ॥

राजा तस्मै सुवर्णकलशत्रयं प्रादात् । ततः कवी राजानं स्तौति ॥

राजा तिस ब्राह्मणको तीन सुवर्णके कलश देता भया । फिर कवि राजाकी स्तुति करने लगा ॥

धारयित्वा त्वयात्मानं महात्यागधनायुषा ॥
मोचिता बलिकर्णाद्याः स्वयशोगुप्तवर्ष्मिणः ॥२३२ ॥

हे राजन् ! आपने शरीर धारण करके, अपने यश करके गुप्त किया है शरीर जिन्होंने ऐसे बलि कर्ण आदि महद्दान, धन, आयु इनसे छुटा दिये अर्थात् आपके दान धन आदिकरके बलि, कर्ण आदिकोंका यश छिप गया है ॥ २३२ ॥

राजा तस्मै लक्षं ददौ । एकदाक्रीडोद्यानपाल आगत्य एकमिक्षुदंडं राज्ञः पुरो मुमोच । तं राजा करे गृहीतवान् । ततो मयूरकविः नितांतं परिचयवशात् आत्मनि राज्ञा कृतामवज्ञां मनसि निधाय इक्षुमिषेणाह ॥

राजा तिसको लाख रुपैये देता भया । एक समय बागवान् आकर एक ईखका गंडा राजाके आगे रखता भया ।

तिसको राजा हाथमें लेता भया। फिर मयूरकवि नित्य आनेजानेसे राजाने किये हुए तिरस्कारको अपने मनमें रख-कर ईखके गंडेके मिषसे कहने लगा ॥

कांतोसि नित्यमधुरोसि रसाकुलोसि।
किं चासि पंचशरकार्मुकमद्वितीयम् ॥
इक्षो तवास्ति सकलं परमेकमूनं।
यत्सेवितो भजसि नीरसतां क्रमेण ॥ २३३ ॥

हे ईखके गंडे! तू सुंदर है। नित्य मधुर है। रससे व्याप्त है। तू सुंदर कामदेवका धनुष है। तेरेमें संपूर्ण गुण हैं। परंतु एक कसर है कि जिससे तू निरंतर क्रमसे सेवन किया हुआ नीरसताको भजता है अर्थात् पिछली पिछली पोरियोंमें रस कम कम आता है ॥ २३३ ॥

राजा कविहृदयं ज्ञात्वा मयूरं संमानितवान्। ततः कदाचिद्रात्रौ सौधोपरि क्रीडापरो राजा शशांकमालोक्य प्राह ॥

राजा कविके हृदयको जानकर मयूरका सन्मान करता भया। फिर किसी समय राजा क्रीडामें तत्पर हुआ महलमें सोबे था सो चंद्रमाको देखकर कहने लगा ॥

यदेतच्चंद्रांतर्जलदलवलीलां वितनुते।
तदाचष्टे लोकः शशक इति नो मां प्रति तथा ॥

जो यह चंद्रमाके भीतर मेघके लेशकी लीला दीखती है इसको मनुष्य सूसा कहते हैं सो मेरेको तैसे भान नहीं होता ॥

ततश्चाधोभूमौ सौधांतः प्रविष्टः कश्चिच्चोर आह ॥

फिर नीचे पृथ्वीपर महलोंमें बढा हुआ कोई चोर कहने लगा ॥

अहं त्विदुं मन्ये त्वदरिविरहाक्रांततरुणी- ।
कटाक्षोल्कापातव्रणकणकलंकांकिततनुम् ॥ २३४ ॥

मैं तो यह मानता हूं कि तेरे शत्रुओंके विरहसे दुःखित जो उनकी स्त्री तिनका कटाक्षरूप जो वज्रपात तिसके व्रण-लेशके कलंककरके चिह्नित है शरीर जिसका ऐसा चंद्रमा है ॥ २३४ ॥

राजा तत् श्रुत्वा प्राह । अहो महाभाग कस्त्व-मर्धरात्रे कोशगृहमध्ये तिष्ठसीति । स आह । देव अभयं नो देहीति । राजा तथेति । ततो राजानं स चोरः प्रणम्य स्ववृत्तांतमकथयत् । तुष्टो राजा चोराय दश कोटीः सुवर्णस्याष्टौन्मत्तान् गजेंद्रांश्च ददौ । ततः कोशाधिकारी धर्मपत्रे लिखति ॥

राजा तिसको सुनकर कहने लगा । बडा आश्चर्य है । हे महाभाग ! तू कौन है जो अर्धरात्रमें खजानेमें बढ रहा। सो कहने लगा कि, हे देव ! मेरा कसूर माफ करो । राजा कहने लगा, माफ है । फिर वह चोर राजाको प्रणाम करके अपना वृत्तांत कहता भया । फिर प्रसन्न हुआ राजा चोरको दश कोटी सुवर्ण महोर और आठ मदोन्मत्त हस्ती देता भया । फिर कोशाधिकारी धर्मपत्रमें लिखता भया ॥

तदस्मै चोराय प्रतिनिहतमृत्युप्रतिभिये ।
प्रभुः प्रीतः प्रादादुपरितनपादद्वयकृते ॥
सुवर्णानां कोटीर्दश दशनकोटिक्षतगिरीन् ।
गजेंद्रानप्यष्टौ मदमुदितकूजन्मधुलिहः ॥ २३५॥

जिसका मृत्युके समान भय नष्ट हो गया ऐसे इस चोरके वास्ते (केवल) श्लोकके पिछले दो चरण बनानेवालेके वास्ते प्रभु महाराज प्रसन्न होके दश करोड सुवर्ण (महोर) और दांतोंके अग्रभागसे पर्वतोंको फोड देवे ऐसे तथा जिनके मदपर मदोन्मत्त भौंहरे गूंज रहे ऐसे मदोन्मत्त आठ हस्ती देता भया ॥ २३५ ॥

ततः कदाचित् द्वारपाल आगत्य प्राह । देव कौपीनावशेषो विद्वान् द्वारि वर्तत इति । राजा प्रवेशयेति । ततः प्रविष्टस्स कविर्भोजमालोक्य मे दारिद्र्यनाशो भविष्यतीति मत्वा तुष्टो हर्षाश्रूणि मुमोच । राजा तमालोक्य प्राह । कवे किं रोदिषि इति । ततः कविराह । राजन् आकर्णय मद्गृहस्थितिम् ॥

फिर किसी समयमें द्वारपाल आकर कहने लगा । हे देव ! एक कौपीन बांधे विद्वान् द्वारपर खडा है । राजा कहने लगा आने दो । फिर अंदर आया हुआ वह कवि भोजको देखकर मेरे दारिद्र्यका नाश होगा यह मानकर प्रसन्न हुआ आनंदके आंसू छोडता भया । राजा तिसको देखकर कहने लगा । हे कवे ! किसवास्ते रोते हो । फिर कवि कहने लगा । हे राजन् ! मेरे घरकी स्थिति सुनो ॥

अये लाजा उच्चैः पथि वचनमाकर्ण्य गृहिणी ।
शिशोः कर्णौ यत्नात्सुपिहितवती दीनवदना ॥
मयि क्षीणोपाये यदकृत दृशावश्रुबहुले ।
तदंतः शल्यं मे त्वमसि पुनरुद्धर्तुमुचितः ॥ २३६ ॥

खील लो २ रास्तामें ऐसा ऊंचा वचन सुनकर अर्थात् खील बेचनेवालेकी अवाज सुनकर दीनमुखवाली मेरी घरवाली यत्नसे बालकके कानोंको ढकती भई (और) मेरेमें अपना क्षिण उपाय जानकर नेत्रोंमें आंसू लाती भई यह वृत्तांत मेरे हृदयमें शल्यसा चुभता भया । इस शल्यको तुम निकालनेके योग्य हो ॥ २३६ ॥

राजा शिव शिव कृष्ण कृष्णेत्युदीरयन् प्रत्यक्षरलक्षं दत्त्वा प्राह । सुकवे, त्वरितं गच्छ गेहं त्वद्गृहिणी खिन्नाभूदिति । ततः कदाचिन्मृगयापरिश्रांतो राजा कस्यचिन्महावृक्षस्य छायामाश्रित्य तिष्ठति स्म । तत्र शांभवदेवो नाम कविः कश्चिदागत्य राजानं वृक्षमिषेणाह ॥

राजा शिव शिव कृष्ण कृष्ण ऐसे कहता हुआ अक्षर २ प्रति लाख २ रुपैये देकर कहने लगा । हे सुकवे ! जल्दी घरको जावो तेरी घरवाली बडी दुःखित है । फिर किसी समयमें शिकारसे थका हुआ राजा किसी बडे वृक्षकी छायामें बैठता भया । तहां शांभवदेव नाम कोई कवि आकर राजाको वृक्षमिसकरके कहने लगा ॥

आमोदैर्मरुतो मृगाः किसलयोल्लासैस्त्वचा तापसाः।
पुष्पैः षट्चरणाः फलैः शकुनयो घर्मार्दिताश्छायया॥
स्कंधैर्गंधगजास्त्वयैव विहिताः सर्वे कृतार्थास्ततः।
त्वं विश्वोपकृतिक्षमोऽसि भवता भग्नापदोन्ये द्रुमाः॥

सुगंधिकरके पवन, पीपसियोंकरके मृग, वक्कलकरके तपस्वी, पुष्पोंकरके भौंरे, फलोंकरके पक्षी, छायाकरके घामसे पीडित जन, डाहलोंकरके गंधगज ऐसे तुम्हारे करके ये संपूर्ण कृतार्थ हो गये हैं। इसवास्ते संपूर्णोंके उपकारके वास्ते तू समर्थ है अन्य वृक्ष तुम्हारे करके भग्नविपत्-वाले हैं॥ २३७॥

किंच-अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णे
सुवमति मधुधाराम्॥ अनधिगतपरिम-
लापि च हरति दृशं मालतीमाला॥ २३८॥

और कहते हैं। श्रेष्ठ कविकी उक्ति अर्थ नहीं जान हुए-केभी कानोंविषे मधुर धारा छोडती है। मालतीकी माला विना सुगंधिवालीभी नेत्रोंको वशमें कर लेती है॥ २३८॥

ताभ्यां श्लोकाभ्यां चमत्कृतो राजा प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ। अन्यदा श्रीभोजः श्रीमहेश्वरं नंतुं शिवालयमभ्यगात्। तदा कोपि ब्राह्मणो राजानं शिवसन्निधौ प्राह। देव॥

तिन श्लोकोंकरके चमत्कृत हुआ राजा अक्षर २ प्रति लाख २ रुपैये देता भया। एक समय श्रीभोजराजा श्रीम-

ईश्वरके नमस्कारके वास्ते शिवालयमें जाता भया । तब कोई ब्राह्मण महादेवजीके पास कहने लगा । हे देव ! ॥

अर्धं दानववैरिणा गिरिजयाप्यर्धं शिवस्याहृतं ।
देवेत्थं जगतीतले पुरहराभावे सन्मुमीलति ॥
गंगा सागरमंबरं शशिकला नागाधिपः क्ष्मातलं ।
सर्वज्ञत्वमधीश्वरत्वमगमत्त्वां मां तु भिक्षाटनम्२३९॥

हे देव ! शिवका आधा अंग विष्णुने ले लिया (और) आधा गिरिजाने । ऐसे पृथ्वीतल शिव विना होतसंते गंगा सागरको चली गई (और) चंद्रकला आकाशको (और) नागाधिप पृथ्वीतलको और सर्वज्ञपन (ईश्वरपना) तुम्हारेको (और) भिक्षाटन मेरेको प्राप्त हो गया ॥ २६१ ॥

राजा अक्षरलक्षं ददौ । ततः कदाचिद् द्वारपाल आगत्य प्राह । देव कोपि विद्वान् द्वारि तिष्ठतीति । राजा प्रवेशयेति प्राह । ततः प्रविष्टो विद्वान् पठति ॥

राजा अक्षरोंके प्रति लाख लाख रुपैये देता भया । फिर किसी समय द्वारपाल आकर कहने लगा । हे देव ! कोई विद्वान् बाहर खडा है । राजा कहने लगा भेजो । फिर भीतर जाकर विद्वान् कहने लगा ॥

क्षणमप्यनुगृण्हाति यं दृष्टिस्तेऽनुरागिणी ॥
ईर्ष्ययेव त्यजत्याशु तं नरेंद्र दरिद्रता ॥ २४० ॥

हे नरेन्द्र ! तुम्हारी स्नेहकी दृष्टि जिसके क्षणमात्रभी अनुग्रह करती है तिसको दरिद्रता ईर्षाकी तरह शीघ्रही त्याग देती है ॥ २४० ॥

राजा लक्षं ददौ । पुनरपि पठति कविः ॥

राजा तिसको लाख रुपैये देता भया । फिरभी कवि पढने लगा ॥

केचिन्मूलाकुलाशाः कतिचिदपि पुनः स्कंधसंबंधभाजश्छायां केचित्प्रपन्नाः प्रपदमपि परे पल्लवानुन्नयंति॥
अन्ये पुष्पाणि पाणौ दधति तदपरे गंधमात्रस्य पात्रं
वाग्वल्ल्याः किंतु मूढाः फलमहह नहि द्रष्टुमप्युत्सहंते॥

हे देव! कितनेक पुरुष वृक्षके मूल (कंद) कीही आशा करते हैं। कितनेक टहनियोंका संबंधही करते हैं। कितनेक छायाकोही आश्रय करते हैं। कोई जड और पीपसियोंको ग्रहण करते हैं। अन्य पुष्पोंकोही हाथमें ग्रहण करते हैं। कोई गंधमात्रकोही ग्रहण करते हैं। परंतु बडा आश्चर्य है कि मूढ जन वाणीरूप वेलका फल देखनेकीभी इच्छा नहीं करते हैं॥ २४१ ॥

एतदाकर्ण्य बाणः प्राह ॥

यह सुनकर बाण कवि कहने लगा ॥

परिच्छिन्नः स्वादोमृतगुडमधुक्षौद्रपयसां।
कदाचिच्चाभ्यासाद्व्रजति ननु वैरस्यमधिकम् ॥
प्रियाबिंबोष्ठे वा रुचिरकविवाक्येप्यनवधि-।
र्नवानंदः कोपि स्फुरति तु रसोसौ निरुपमः॥२४२॥

अमृत, गुड, शहद, मधु, दुग्ध इन्होंका स्वाद थोडाही है। कभी घटभी जाता है और बहुत सेवन करनेसे विरसताकोभी

निःश्वासोपि न निर्याति बाणे हृदयवर्त्मनि ॥
किं पुनः प्रकटाटोपपदबद्धा सरस्वती ॥ २४५ ॥

जब बाण (कवि या शर) हृदयमार्गमें प्राप्त हो जाता है तब ऊंचा श्वासभी नहीं निकलता है फिर प्रत्यक्ष पाखंड आडंबरके पदोंकरके रची हुई वाणी (कविता) कहनी तो क्या हो सक्ती है ॥ २४५ ॥

ततो भवभूतिः पराभवमसहमानः प्राह ॥

फिर भवभूति तिरस्कारको नहीं सहता हुआ कहने लगा॥

हठादाकृष्टानां कतिपयपदानां रचयिता ।
जनः स्पर्धालुश्चेदहह कविना वश्यवचसा ॥
भवेदद्य श्वो वा किमिह बहुना पापिनि कलौ ।
घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः ॥ २४६ ॥

कितनेक पद कहींसे हठसे खैंचकर तिन्होंका रचनेवाला जन जो वश्यवचनवाले कविके साथ ईर्षा करे तो बडे आश्चर्यकी बात है । यहां बहुत क्या कहें, इस पापी कलिके विषे घटोंको रचनेवालेका अर्थात् कुम्हारका और त्रिलोकी रचनेवाले ब्रह्माका कलह आजकलमें जरूर होगा ॥ २४६ ॥

पुनराह—कालिदासकवेर्वाणी कदाचिन्मद्गिरा सह ॥
कलयत्यद्य साम्यं चेद्भीता भीता पदे पदे ॥ २४७ ॥

फिर कहने लगा । कालिदास कविकी वाणी किसी समयमें मेरी वाणीके साथ समताको भजती है (सोभी अब तो पदपदमें डरी डरीकी तरह समताको भजती है ॥ २४७ ॥

ततः कालिदासः प्राह । सखे भवभूते महाकविरसि अत्र किमु वक्तव्यम् ॥

फिर कालिदास कहने लगा । हे सखे भवभूते ! तुम महाकवि हो, इसमें क्या कहना है ॥

एषा धारेंद्रपरिषन्महापंडितमंडिता ॥
आवयोरंतरं वेत्ति राजा वा शिवसन्निभः ॥ २४८ ॥

महापंडितोंसे भूषित यह भोजराजाकी सभा या शिवसदृश राजा हमारे तुम्हारे अंतरको जानता है ॥ २४८ ॥

तच्छ्रुत्वा राजा प्राह । युवाभ्यां रत्यंतो वर्णनीय इति । भवभूतिः ॥

तिसको सुनकर राजा कहने लगा । तुमने मैथुनका अंत वर्णन करना चाहिये । भवभूति कहने लगा ॥

मुक्ताभूषणमिंदुबिंबमजनि व्याकीर्णतारं नभः ।
स्मारं चापमपेतचापलमभूदिंदीवरे मुद्रिते ॥
व्यालीनं कलकंठमंदरणितं मदानिलैर्मंदितं ।
निष्पंदस्तबका च चंपकलता साभून्न जाने ततः२४९

चंद्रबिंब (मुख) अलंकारोंसे रहित हो गया, जिधर उधर विखर गये हैं नक्षत्र (करधनीके मोती) जिसमें ऐसा तो आकाश (कमर) हो गया, कामदेवका धनुष (भौंह) चपलतारहित हो गया, नील कमल (नेत्र) मूंद गये, सुन्दर कंठका शब्द बंद हो गया, मंद पवन मंदित हो गया अर्थात् श्वास लगा और सुवर्णचंपककी बेल (युवति) तो

विश्चल गुच्छों (स्तनों) वाली हो गई उपरांत क्या हुआ वह नहीं जानता हूं ॥ २४९ ॥

ततः कालिदासः प्राह ॥

फिर कालिदास कहने लगा ॥

स्विन्नं मंडलमैंदवं विलुलितं स्रग्भारनद्धं तमः ।
प्रागेव प्रथमानकेतकशिखालीलायितं सुस्मितम् ॥
शांतं कुंडलतांडवं कुवलयद्वंद्वं तिरोमीलितं ।
वीतं विद्रुमसीत्कृतं नहि ततो जाने किमासीदिति ॥

चंद्रमंडल (सुख) पसीनायुक्त हो गया और इसके पहिलेही पुष्पमालासे बंधा हुआ अंधकार (केशपाश) खुल गया, प्रसिद्ध केतकीकी शिखासमान हास्य हो गया, कुण्डलोंका नृत्य शांत हो गया, नीलकमलों (नेत्रों) का युग्म मूंद गया और मूंगों (होठों) का सीत्कार शब्द जाता रहा। इससे उपरांत मैं नहीं जानता क्या होता भया ॥ २५० ॥

राजा कालिदासं प्राह । सुकवे भवभूतिना सह साम्यं तव न वक्तव्यम् । भवभूतिराह । देव किमिति वारयसि । राजा सर्वप्रकारेण कविरसि । ततो बाणः प्राह । राजन् भवभूतिः कविश्चेत्कालिदासो वक्तव्यो वा । राजा बाणकवे कालिदासः कविर्न किंतु पार्वत्याः कश्चिदवनौ पुरुषावतार एव । ततो भवभूतिराह । देव किमत्र प्राशस्त्यम् भवति । राजा प्राह भवभूते किमु वक्तव्यम् प्राशस्त्यं । कालिदासश्लोके

यतः कैतकशिखालीलायितं सुस्मितमिति पठितम्। ततो भवभूतिराह। देव पक्षपातेन वदसीति। ततः कालिदासः प्राह। देव अपख्यातिर्मा भूत् भुवनेश्वरीदेवतालयं गत्वा तत्सन्निधौ तां पुरस्कृत्य घटे संशोधनीयं त्वया। ततो भोजः सर्वकविवृंदवेष्टितस्सन् भुवनेश्वरीदेवालयं प्राप्य तत्र तत्सन्निधौ भवभूतिहस्ते घटं दत्त्वा श्लोकद्वयं च तुल्यपत्रद्वये लिखित्वा तुलायां मुमोच। ततो भवभूतिभागे लघुत्वोद्धूतां ईषदुन्नतिं ज्ञात्वा देवी भक्तपराधीना सदसि तत्परिभवो मा भूदिति स्वावतंसकल्हारमकरंदं वामकरनखाग्रेण गृहीत्वा भवभूतिपत्रे चिक्षेप। ततः कालिदासः प्राह॥

राजा कालिदासको कहने लगा। हे सुकवे! भवभूतिके साथ तुम्हारी समता नहीं कही जाती। भवभूति कहने लगा। हे देव! ऐसे क्या विसराहते हो। राजा कहने लगा, तुम संपूर्ण प्रकारसे कवि हो। फिर बाण कवि कहने लगा। हे राजन्! जो भवभूति कवि है तो कालिदासकोभी कहो। राजा कहने लगा, हे बाणकवे! कालिदास कवि नहीं है किंतु, पृथ्वीविषै कोई पार्वतीका पुरुषावतार है। फिर भवभूति कहने लगा। हे देव! यहां क्या श्रेष्ठता है। राजा कहने लगा, हे भवभूते! क्या श्रेष्ठता कहूं। कालिदासके श्लोकमें जो "कैतकशिखालीलायितं सुस्मितं" यह कहा सो श्रेष्ठ कविता है। फिर भवभूति कहने लगा। हे देव!

पक्षपात करके कहते हो । फिर कालिदास कहने लगा । हे देव ! किसीका वृथा तिरस्कार मत हो । इसवास्ते भुवनेश्वरी देवीके स्थानमें जाकर तिसके पास तिस कविताको अगाडी करके तुमने ताखडींमें संशोधन करना । फिर भोज संपूर्ण कविसमूहके कहनेसे (निवेदित हुआ) भुवनेश्वरी देवीके स्थानमें प्राप्त होकर तहां देवीके समीप भवभूतिके हाथमें ताखडी देकर और दो श्लोक तुल्य पत्रोंमें लिखकर ताखडींमें छोडता भया । फिर भवभूतिका पत्र हलकेपनसे कुछ ऊपरको गया जानकर भक्तपराधीन देवीने विचारा कि सभामें इस मेरे भक्तका तिरस्कार मत हो इसवास्ते अपने मुकुटकमलकी रेणुको वायें हाथसे ग्रहण कर भवभूति पत्रपर गेरती भई । फिर कालिदास कहने लगा ॥

अहो मे सौभाग्यं मम च भवभूतेश्च भणितं ।
धटायामारोप्य प्रतिफलति तस्यां लघिमनि ॥
गिरां देवी सद्यः श्रुतिकलितकह्लारकलिका- ।
मधूलीमाधुर्यं क्षिपति परिपूर्त्यै भगवती ॥२८१॥

अहो मेरे सौभाग्यको धन्य है जो मेरी और भवभूतिकी कविता ताखडींमें आरोपण करके भवभूतिकी कवितामें हलकापन होतसंते वाणियोंकी देवी भगवती तात्काल मुकुटमें रक्खी कह्लारकलीकी धूली पूर्ण करनेके वास्ते गेरती भई ॥ २८१ ॥

ततः कालिदासपादयोः पतति भवभूतिः । राजानं च विशेषज्ञं मनुते स्म । ततो राजा भवभूति-

कवये शतमत्तगजान् ददौ । अन्यदा राजा धारानगरे रात्रावेकाकी विचरन् कांचन स्वैरिणीं संकेतं गच्छंतीं दृष्ट्वा प्रपच्छ । देवि, का त्वमेकाकिनी मध्यरात्रौ क्व गच्छसीति । ततश्चतुरा स्वैरिणी सा तं रात्रौ विचरंतं श्रीभोजं निश्चित्य प्राह ॥

फिर भवभूति कालिदासके चरणोंमें गिर गया। और राजाकोभी बहुत जाननेवाला मानता भया। फिर राजा भवभूति कविको सौ (१००) मदोन्मत्त हस्ती देता भया। एक समय राजा धारानगरमें अकेला विचरता हुआ किसी स्वैरिणी स्त्रीको संकेतस्थानमें जाती हुईको देखकर पूंछता भया कि, हे देवी ! तू कौन है और अर्धरात्रमें अकेली कहां जाती है। फिर वह चतुर स्वैरिणी स्त्री रात्रिमें विचरते हुए भोजको निश्चय कर कहने लगी ॥

त्वत्तोपि विषमो राजन् विषमेषुः क्षमापते ॥
शासनं यस्य रुद्राद्या दासवन्मूर्ध्नि कुर्वते ॥ २५२॥

हे राजन् ! तुम्हारेसे जबर हुकुमवाला कामदेव है। हे पृथ्वीपते ! जिसके हुकुमको रुद्र आदि देवताभी दासकी तरह मस्तकपर धारण करते हैं ॥ २५२ ॥

ततस्तुष्टो राजा दोर्दंडादादाय अंगदं वलयं च तस्यै दत्तवान् । सा च यथास्थानं प्राप । ततो वर्त्मनि गच्छन् कचिद्गृहे एकाकिनीं रुदतीं नारीं दृष्ट्वा किमर्थमर्धरात्रौ रोदिति किं दुःखमेतस्या इति

विचारयितुमेकमंगरक्षकं प्राहिणोत् । ततोंगरक्षकः पुनरागत्य प्राह । देव मया पृष्टा यदाह तच्छृणु ॥

फिर प्रसन्न हुआ राजा अपनी भुजाओंसे निकालकर बाजूबंद और कंकण तिसको देता भया । वह अपने स्थानको प्राप्त होती भई । फिर मार्गमें चलता हुआ राजा किसी घरमें अकेली रोती हुई स्त्रीको देखकर राजा कहने लगा किसवास्ते अर्धरात्रमें यह रोती है, इसको क्या दुःख है ऐसे विचार करता हुआ एक अपने चपडासीको भेजता भया । फिर चपडासी आकर कहने लगा । हे देव ! मैंने पूंछी तब जो कहने लगी सो सुन ॥

वृद्धो मत्पतिरेष मंचकगतः स्थूणावशेषं गृहं ।
कालोयं जलदागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो ॥
यत्नात्संचिततैलबिंदुघटिका भग्नेति पर्याकुला ।
दृष्ट्वा गर्भभरालसां निजवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति २५३॥

यह वृद्ध मेरा पति पलंगपर पडा है और घरमें अन्य कोई नहीं और वर्षाऋतुका यह समय और मेरे पुत्रकी कुशलकी बात भी नहीं आई । सो यत्नसे इकट्ठी करी हुई तेल बूंदकी कूल्हडी (तेलका पात्र) फूट गई इसवास्ते व्याकुल हुई सासू, गर्भभारसे दुःखित हुई अपनी पुत्रवधूको देखकर बहुत रोती है ॥ २५३ ॥

ततः कृपावारिधिः क्षोणीपालः तस्यै लक्षं ददौ । अन्यदा कोंकणदेशवासी विप्रो राज्ञे स्वस्तीत्युक्त्वा प्राह ॥

फिर कृपाका समुद्र राजा तिस स्त्रीको लाख रुपैये देता भया। एक समय कोंकण देशका वसनेवाला ब्राह्मण राजाको 'स्वस्ति' ऐसे आशीर्वाद देकर कहने लगा ॥

शुक्तिद्वयपुटे भोज यशोब्धौ तव रोदसी ॥
मन्ये तदुद्भवं मुक्ताफलं शीतांशुमंडलम् ॥२९४॥

हे राजन् भोज! तेरे यशरूप समुद्रमें आकाश और भूमिरूप, जो दो सीपियोंका पुट है तिसमें होनेवाले चंद्रमंडलको मोती मानता हूं ॥ २९४ ॥

राजा तस्मै लक्षं ददौ। अन्यदा काश्मीरदेशात्कोपि कौपीनावशेषो राजनिकटस्थकवीन् कनकमाणिक्यपट्टदुकूलालंकृतान् आलोक्य राजानं प्राह ॥

राजा तिसको लाख रुपैये देता भया। एक समय काश्मीर देशसे कौपीनधारी कोई विद्वान् आके सुवर्ण माणिक पाट रेशमसे भूषित हुए राजाके पास होनेवाले कवियोंको देखकर राजाको कहने लगा ॥

नो पाणी वरकंकणक्कणयतौ नो कर्णयोः कुंडले क्षुभ्यत्क्षीरधिदुग्धमुग्धमहसी नो वाससी भूषणम् ॥ दंतस्तंभविकासिका न शिबिका नाश्वोपि विश्वोन्नतो राजन्राजसभासु भाषितकलाकौशल्यमेवास्ति नः ॥

हे राजन्! हमारे श्रेष्ठ कंकणोंके शब्दवाले हाथ नहीं और कानोंमें कुंडल नहीं और दूधके समुद्रसरीखा सफेद हमारे वस्त्र नहीं और हाथीदांतके समान प्रकाशवाली हमारे

पालकी नहीं सबोंसे ऊंचा घोडा नहीं, परंतु राजसभामें कहने योग्य एक कविता कलाकौशल्य हमारे पास है ॥ २२५ ॥

ततस्तस्मै राजा लक्षं ददौ । अन्यदा राजा रात्रौ चंद्रमंडलं दृष्ट्वा तदंतःस्थकलंकं वर्णयति स्म ॥

फिर प्रसन्न हुआ राजा तिसको लाख रुपैये देता भया । एक समय राजा रात्रिको चंद्रमंडलको देखकर तिसके बीचमें स्थित कलंकको वर्णन करता भया ॥

अंकं केपि शशंकिरे जलनिधेः पंकं परे मेनिरे ।
सारंगं कतिचिच्च संजगदिरे भूच्छायमैच्छन्परे ॥

चंद्रमामें कोई कलंककी शंका करते हैं, कोई समुद्रकी कींच मानते हैं, कोई सारंग कहते हैं और कितनेक पृथ्वीकी छाया कहते हैं ॥

इति राजा पूर्वार्धं लिखित्वा कालिदासहस्ते ददौ । ततस्स तस्मिन्नेव क्षणे उत्तरार्धं लिखति कविः ॥

ऐसे राजा पूर्वार्द्ध लिखकर कालिदासके हाथमें देता भया । फिर वह कवि उसी क्षणमें उत्तरार्ध लिखता भया ॥

इंदौ यद्दलितेंद्रनीलशकलश्यामं दरीदृश्यते ।
तत्सांद्रं निशि पीतमंधतमसं कुक्षिस्थमाचक्ष्महे २५६

चंद्रमामें जो दलित इंद्रनील मणिके टुकडेकीसी श्यामता दीखती है तिसको हम यह कहते हैं कि रात्रिमें चंद्रमाने जो सघन अंधकार पिया वही कुक्षिमें भान होता है ॥ २५६ ॥

राजा प्रत्यक्षरं लक्षमुत्तरार्द्धस्य दत्तवान् । ततो राजा

कालिदासकवितापद्धतिं वीक्ष्य चमत्कृतः पुनराह । सखे अकलंकं चंद्रमसं व्यावर्णयेति । ततः कविः पठति ॥

राजा उत्तरार्धका अक्षर २ प्रति लाख २ रुपैये देता भया । फिर राजा कालिदासकी कवितापद्धतिको देखकर चमत्कृत हुआ फिर कहने लगा । हे सखे ! कलंकरहित चंद्रमाका वर्णन करो । फिर कवि पढने लगा ॥

लक्ष्मीक्रीडातडागो रतिधवलगृहं दर्पणो दिग्वधूनां ।
पुष्पं श्यामालतायास्त्रिभुवनजयिनो मन्मथस्यातपत्रम् ।
पिंडीभूतं हरस्य स्मितममरधुनीपुंडरीकं मृगांक- ।
ज्योत्स्नापीयूषवापी जयति सितवृषस्तारकागोलकस्य

यह चंद्रमा लक्ष्मीके क्रीडाका तालाव है, और रतिका सुपेद घर है, दिग्रूप वधुओंका सीसा है, श्यामावेलका पुष्प है, त्रिभुवनको जीतनेवाले कामदेवका छत्र है, महादेवका पिंडीभूत मंदहास है और आकाशगंगाका कमल है और अपनी किरणोंको अमृतकी वावडी है, तारागोलकका सुपेद वृषभ है ऐसे (विचित्र) रूपोंसे चंद्रमा उत्कर्षकरके वर्तता है ॥ २५७ ॥

राजा पुनः प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ । एकदा कश्चिद्दूरदेशादागतो वीणाकविराह ॥

राजा फिर अक्षरों प्रति लाख लाख रुपैये देता भया । एक समय कोई दूर देशसे आया हुआ वीणाकवि कहने लगा ॥

तर्कव्याकरणाध्वनीनधिषणो नाहं न साहित्यवि- ।
ज्ञो जानामि विचित्रकाव्यरचनाचातुर्यमत्यद्भुतम् ॥

देवी कापि विरिंचिवल्लभसुता पाणिस्थवीणाकल- ।
क्वाणाभिन्नरवं तथापि किमपि ब्रूते मुखस्था मम ॥

न्याय व्याकरणमार्गमें होनेवाली बुद्धिवाला मैं नहीं हूं। और न साहित्यको जानता और अत्यद्भुत विचित्र काव्यकी रचना मैं नहीं जानता, परंतु कोई ब्रह्माकी प्यारी पुत्री देवी (सरस्वती) मेरे मुखमें स्थित है फिरभी वह हाथमें होनेवाली वीणाका कल (मनोहर) शब्दसरीखा शब्द कहती है॥ २५८॥

राजा तस्मै लक्षं ददौ । बाणस्तस्य सुललितप्रबंधं श्रुत्वा प्राह । देव ॥

राजा तिसको लाख रुपैये देता भया। बाण कवि तिसके सुंदर प्रबंधको सुनकर कहने लगा। हे देव! ॥

मातंगीमिव माधुरीं ध्वनिविदो नैव स्पृशंत्युत्तमां ।
व्युत्पत्तिं कुलकन्यकामिव रसोन्मत्ता न पश्यन्त्यमी ॥
कस्तूरीघनसारसौरभसुहृद्व्युत्पत्तिमाधुर्ययो- ।
र्योगः कर्णरसायनं सुकृतिनः कस्यापि संपद्यते॥२५९

ध्वनिको जाननेवाले इस, कवितामें मदोन्मत्त हस्तिनीकी तरह माधुरी ध्वनिको नहीं स्पर्श करते हैं, और ये रसोन्मत्त कवि यहां कुलकन्याकी तरह उत्तम व्युत्पत्तिको नहीं देखते हैं। कस्तूरी कर्पूरकेसी सुगंधिवाला और कानोंमें रसायनरूप व्युत्पत्ति और मधुरताका जो संयोग है वह कानोंको रसायन कहा है सो यहां किसी (एकही) सुकृतिको प्राप्त होता है॥ २५९ ॥

अन्यदा राजा सीतां प्रातः प्राह । देवि प्रभातं व्यावर्णयेति । सीता प्राह ॥

एक समय राजा सीताको प्रातःकाल कहता भया । हे देवि ! प्रभातका वर्णन कर । सीता कहने लगी ॥

विरलविरलाः स्थूलास्ताराः कलाविव सज्जना ।
मन इव मुनेस्सर्वत्रैव प्रसन्नमभून्नभः ॥
अपसरति च ध्वांतं चित्तात्सतामिव दुर्जनो ।
व्रजति च निशा क्षिप्रं लक्ष्मीर्निरुद्यमना इव ॥२६०॥

कलियुगमें सज्जनकी तरह कोई कोई मोटा तारा दीखता है और मुनिकी मनकी तरह सारा आकाश प्रसन्न हो गया । सज्जनोंके चित्तसे दुर्जनकी तरह अंधेरा दूर चला गया । निरुद्यमवालेकी लक्ष्मीकी तरह रात्रि जल्दी चली जाती है२६०

राजा लक्षं दत्त्वा कालिदासं प्राह । सखे सुकवे त्वमपि प्रभातं व्यावर्णयेति । कालिदासः ॥

राजा लक्ष रुपैये सीताको देकर कालिदासको कहने लगा । हे सखे ! हे सुकवे ! तुमभी प्रभातका वर्णन करो । कालिदास कहने लगा ॥

अभूत्प्रिगा प्राची रसपतिरिव प्राश्य कनकं ।
गतच्छायश्चंद्रो बुधजन इव ग्राम्यसदसि ॥
क्षणात्क्षीणास्तारा नृपतय इवानुद्यमपरा ।
न दीपा राजंते द्विनयरहितानामिव गुणाः॥२६१॥

पारा जैसे सुवर्णको मिलकर पीला हो जाता है, ऐसे

पूर्व दिशा पीली हो गई । ग्रामीणों (बाहर गामवालों) की सभामें जैसे पंडित शोभाहीन हो जाता है ऐसे चंद्रमा शोभाहीन हो गया । उद्यमरहित राजा जैसे क्षीण हो जाता है ऐसे तारे क्षणमात्रमें क्षीण हो गये और नम्रतारहितोंके गुण जैसे प्रकाश नहीं करते हैं ऐसे दीपक प्रकाश नहीं करते हैं ॥ २६१ ॥

राजा तस्मै प्रत्यक्षरलक्षं ददौ । अन्यदा द्वारपाल आगत्य प्राह । देव कापि मालाकारपत्नी द्वारि तिष्ठतीति राजा प्रवेशयेति । ततः प्रवेशिता सा च नमस्कृत्य पठति ॥

राजा तिसको अक्षर २ प्रति लाख २ रुपैये देता भया । एक समय द्वारपाल आकर कहने लगा । हे देव ! कोई मालन द्वारपर खडी है । राजाने कहा आने दो । फिर वह मालिन भीतर जाकर नमस्कार करके श्लोक पढने लगी ॥

समुन्नतघनस्तनस्तबकचुंबितुंबीफल- ।
क्कणन्मधुरवीणया विबुधलोकलोलद्भ्रुवा ॥
त्वदीयमपगीयते हरकिरीटकोटिस्फुर- ।
त्तुपारकरकंदलीकिरणपूरगौरं यशः ॥ २६२ ॥

हे राजन् ! ऊंचे और घन जो गुच्छेरूप मेरे स्तन (कुचा) हैं उनको जिसके तूंबे चूंबते हैं ऐसी मधुर आवाजवाली वीणाकरके अर्थात् छातीके लगाई हुई बीन करके और स्वर्गलोकवासी जनोंके ऊपर चंचल हुई भ्रुकुटी करके

मेरेसे आपकाही यश गाया जाता है। सो वह आपका यश, महादेवजीके मुकुटके अग्रभागमें रहनेवाले चंद्रमाकी किरणोंके समान भरपूर स्वच्छ गौर है ॥ २६२ ॥

राजा अहो महती पदपद्धतिरिति तस्यै प्रत्यक्षरलक्षं ददौ। अन्यदा रात्रौ राजा धारानगरे विचरन् कस्यचिद्गृहे कामपि कामिनीमुलूखलपरायणां ददर्श। राजा तां तरुणीं पूर्णचंद्राननां सुकुमारांगीं विलोक्य तत्करस्थं मुसलं प्राह। हे मुसल एतस्याः करपल्लवस्पर्शेनापि त्वयि किसलयं नासीत् तर्हि सर्वथा काष्ठमेव त्वमिति। ततो राजा एक चरणं पठति स्म ॥

राजा कहने लगा अहो इसके पदोंकी पद्धति बडी है ऐसे विचार अक्षर २ प्रति तिसको लाख २ रुपैये देता भया। एक समय रात्रिको राजा धारानगरमें विचरता हुआ किसीके घरमें अन्न छडती हुई किसी स्त्रीको देखता भया। राजा जवान और पूर्ण चंद्रमाकेसे मुखवाली और कोमल अंगोंवाली ऐसी तिस स्त्रीको देखकर और तिसके हाथमें स्थित मूसलको देखकर तिसके प्रति कहने लगा। हे मुसल! इस स्त्रीका हस्तकमलपत्रका स्पर्श करकेभी जो तेरे पीपसी नहीं फूटी तो तू सर्वथा काष्ठही है। फिर राजा एक चरण पढता भया ॥

मुसल किसलयं ते तत्क्षणाद्यन्न जातम्।

हे मुसल! जो तिसी क्षण तेरे पीपसी नहीं उत्पन्न हुई।

ततो राजा प्रातस्सभायां समागतं कालिदासं वीक्ष्य

'मुसल किसलयं ते तत्क्षणाद्यन्न जातम्' इति पठित्वा सुकवे त्वं चरणत्रयं पठेत्युवाच । ततः कालिदासःप्राह ॥

फिर राजा प्रातःकाल सभामें आये हुए कालिदासको देखकर यह पहले कहे श्लोकका चरण पढकर कहने लगा कि, हे सुकवे ! तीन चरण तुम पढो । फिर कालिदास कहने लगा ॥

जगति विदितमेतत्काष्ठमेवासि नूनं ।
तदपि च किल सत्यं कानने वर्धितोसि ॥
नवकुवलयनेत्रीपाणिसंगोत्सवेस्मिन् ।
मुसल किसलयं ते तत्क्षणाद्यन्न जातम् २६३॥

हे मुसल ! यह जगत्में विदितही है कि निश्चय तू काष्ठही है और यहभी निश्चय सत्यहीं है कि तू वनमें बढा है । नवकमलसरीखे नेत्रोंवाली स्त्रीके हाथके संगके इस उत्सवमें तेरे तिसी क्षणमें पीपसी नहीं उत्पन्न हुई ॥ २६३ ॥

ततो राजा चरणत्रयस्य प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ । अन्यदा राजा दीर्घकालं जलकेलिं विधाय परिश्रांतस्तत्तीरस्थवटविटपिच्छायायां निषण्णस्तत्र कश्चित्कविरागत्य प्राह ॥

फिर राजा तीन चरणोंके अक्षर २ प्रति लाख लाख रुपैया देता भया । एक समय बहुतकालतक जलमें क्रीडा करके थका हुआ राजा तिस सरोवरके तीरपर वटके वृक्षकी छायामें बैठ गया । तहां कोई कवि आकर कहने लगा ॥

छन्नं सैन्यरजोभरेण भवतः श्रीभोजदेव क्षमा- ।
रक्षादक्षिण दक्षिणक्षितिपतिः प्रेक्ष्यांतरिक्षं क्षणात् ॥

निःशंको निरपत्रपो निरनुगो निर्बांधवो निःसुहृ- ।
न्निःस्त्रीको निरपत्यको निरनुजो निर्हाटको निर्गतः ॥

हे भोजदेव ! हे क्षमारक्षामें चतुर ! तुम्हारी सेनाकी रजके भारकरके आच्छादित आकाशको देखकर दक्षिणदेशका राजा क्षणमात्रमें शंकारहित, लज्जारहित, नौकररहित, बांधवरहित, सुहृद्रहित, स्त्रीरहित, संतानरहित, छोटे भाईरहित, सुवर्णरहित (खजानारहित) ऐसा हुआ निकल गया ॥ २६४ ॥

किंच-अकांडधृतमानसव्यवसितोत्सवैस्सारसै- ।
रकांडपटुतांडवैरपि शिखंडिनां मंडलैः ॥
दिशस्समवलोकिताः सरसनिर्भरप्रोल्लस- ।
द्भवत्पृथुवरूथिनीरजनिभूरजःश्यामलाः ॥ २६५ ॥

और कहते हैं । विना अवसर मानसमें निश्चय कर उत्सववाले सारसोंकरके और विना अवसर सुंदर नाचनेवाले मयूरोंके मंडलोंकरके, रससे भरपूर प्रफुल्लित हुई आपकी बडी भारी सेनाकी, रात्री समान श्यामरूप धूली करके काली हुई दिशा देखी जाती है अर्थात् उनको मेघ आनेका समय दीखता है ॥ २६५ ॥

ततो राजा लक्षद्वयं ददौ । तदानीमेव तस्य शाखायामेकं काकं रटंतं प्रेक्ष्य कोकिलं चान्यशाखायां कूजंतं वीक्ष्य देवजयनामा कविराह ॥

फिर राजा दो लाख रुपैये देता भया । उसी समय तिस

वृक्षकी शाखामें बोलते हुए काकको देखकर और कोयलको दूसरी शाखामें बोलती हुई देखकर देवजय नामा कवि कहने लगा ॥

नो चारू चरणौ न चापि चतुरा चंचुर्न वाच्यं वचो।
नो लीला चतुरा गतिर्न च शुचिः पक्षग्रहोयं तव ॥
क्रूरक्रेंकृतिनिर्भरां गिरमिह स्थाने वृथैवोद्गिरन् ।
मूर्ख ध्वांक्ष न लज्जसेप्यसदृशं पांडित्यमुन्नाटयन् २६६

न तो सुंदर चरण, न चतुर चोंच, न कहने योग्य वचन और न चतुर लीला, न तेरा सुंदर पक्षग्रह। क्रूर कां कां शब्दसे भरी वाणीको इस जगहपर वृथा कहता हुआ हे मूर्ख काक! तू बुरा पांडित्य दिखाता हुआ लज्जाको प्राप्त नहीं होता है ॥ २६६ ॥

तत एनां देवजयकविना काकमिषेण विरचितां स्वगर्हणां मन्यमानस्तत्स्पर्धालुर्हरिशर्मा नाम कविः कोपेनेर्ष्यापूर्वं प्राह ॥

फिर देवजय कविने कागके मिषसे जो यह वाणी कही इस वाणीसे अपनी निंदा मानता हुआ तिसकी स्पर्धा करता हुआ हरिशर्मा नाम कवि कोपकरके ईर्षापूर्वक कहने लगा ॥

तुल्यवर्णच्छदैः कृष्णः कोकिलैस्सह संगतः ॥
केन व्याख्यायते काकः स्वयं यदि न भाषते ॥ २६७ ॥

रंग और पांखोंकरके कोयलके समान काला और कोयलोंके साथ मिला हुआ काग जो आप नहीं बोले तो कैसे जाना जावे ॥ २६७ ॥

ततो राजा तयोर्हरिशर्मदेवजययोः अन्योन्यवैरं ज्ञात्वा मिथ आलिंगनादिवस्त्रालंकारादिदानेन च मित्रत्वं व्यधात्। अन्यदा राजा यानमारुह्य गच्छन् वर्त्मनि कंचित्तपोनिधिं दृष्ट्वा तं प्राह। भवादृशानां दर्शनं भाग्यायत्तम्। भवतां क्व स्थितिः। भोजनार्थं के वा प्रार्थ्यन्त इति। ततः स राजवचनमाकर्ण्य तपोनिधिराह॥

फिर राजा तिन हरिशर्म देवजयका आपसमें वैर जानकर आपसमें मिलाप करा और वस्त्र आभूषणादि दान देकर मैत्री करता भया। एक समय राजा सवारीमें बैठकर मार्गमें चलता हुआ किसी तपोनिधिको देखकर तिसको कहने लगा। तुम्हारे सरीखोंके दर्शन भाग्यके आधीन है। तुम्हारा रहना कहां। और भोजनके वास्ते किनकी प्रार्थना करिये है। फिर वह तपोनिधि राजाके वचनको सुनकर कहने लगा॥

फलं स्वेच्छालभ्यं प्रतिवनमखेदं क्षितिरुहां।
पयः स्थाने स्थाने शिशिरमधुरं पुण्यसरिताम्॥
मृदुस्पर्शा शय्या सुललितलतापल्लवमयी।
सहंते संतापं तदपि धनिनां द्वारि कृपणाः॥ २६८॥

हे राजन्! वनवनमें वृक्षोंके फल विनाही परिश्रम यथेच्छ मिलते हैं और पवित्र नदियोंका शिशिरऋतुसे मधुर हुआ जल जगह जगह मिलता है, सुंदर वेलपत्तोंवाली कोमल स्पर्शवाली शय्या है (ऐसे अच्छा निर्वाहभी है) तौभी

धनियोंके द्वारपर जो कृपणलोग वसते हैं वे दुःख सहते हैं अर्थात् धन पाके कृपण होना यही दुःख है ॥ २६८ ॥

राजन् वयं कमपि नाभ्यर्थयामः न गृह्णीमश्चेति राजा तुष्टो नमति । तत उत्तरदेशादागत्य कश्चिद्राजानं स्वस्तीत्याह । तं च राजा पृच्छति । विद्वन् कुत्र ते स्थितिरिति । विद्वानाह ॥

हे राजन् ! हम कुछभी याचना नहीं करते न किसीसे कुछ ग्रहण करते ऐसे सुन राजा प्रसन्न हुआ नमस्कार करता भया । फिर कोई उत्तरदेशसे आकर राजाको 'स्वस्ति' ऐसे आशीर्वाद देकर कहने लगा । राजा तिसको पूंछने लगा । हे विद्वन् ! तुम्हारा रहना कहां । विद्वान् कहने लगा ॥

यत्रांबु निंदत्यमृतमंत्यजाश्च सुरेश्वराः ॥
चिंतामणिश्च पाषाणास्तत्र नो वसतिः प्रभो ॥ २६९ ॥

जहां जल अमृतकी निंदा करता है और जहां नीच जातिके लोग इंद्रकी बराबरी करते हैं जहांके पत्थर (पाषाण) चिंतामणिकी निंदा करते हैं । हे प्रभो ! मैं तहां वसता हूं ॥ २६९ ॥

तदा राजा लक्षं दत्त्वा प्राह काशीदेशे का विशेषवार्त्तेति । स आह । देव इदानीं काचिदद्भुतवार्ता तत्र लोकमुखेन श्रुता, देवा दुःखेन दीना इति । राजा देवानां कुतो दुःखं विद्वन् । स चाह ॥

तब राजा तिसको लाख रुपैये देकर कहने लगा । का-

श्रीदेशमें क्या विशेष वार्ता है। वह कहने लगा। देव! अब तहां कोई अद्भुत वार्ता मनुष्योंके मुखसे सुनी सो यह है कि देवता दुःखकरके दीन हैं। राजा कहने लगा कि, हे विद्वन्! देवताओंको क्या दुःख है। वह कहने लगा॥

निवासः क्वाद्य नो दत्तो भोजेन कनकाचलः॥
इति व्यग्रधियो देवा भोज वार्तेति नूतना॥ २७०॥

भोजने कनकाचल दान कर दिया, सो अब हमारा निवास (रहना) कहां होगा अर्थात् भोजने सब सुवर्ण दान कर दिया और सुवर्णका जो सुमेरु पर्वत है वहां देवतोंका वास है, सो इस कारणसे देवताओंकी बुद्धि व्याकुल हो गई। हे भोज! यह नवीन बात है॥ २७०॥

ततो राजा कुतूहलोक्त्या तुष्टः सन् तस्मै पुनर्लक्षं ददौ। ततो द्वारपालः प्राह। देव श्रीशैलादागतः कश्चिद्विद्वान् ब्रह्मचर्यनिष्ठो द्वारि वर्तत इति। राजा प्रवेशयेत्याह। तत आगत्य ब्रह्मचारी चिरं जीवेति वदति। राजा तं पृच्छति। ब्रह्मन् बाल्य एव कलिकालाननुरूपं किं नाम व्रतं ते। अन्वहमुपवासेन कृशोसि। कस्यचित् ब्राह्मणस्य कन्यां तुभ्यं दापयिष्यामि। त्वं चेद्गृहस्थधर्ममंगीकरिष्यसीति। ब्रह्मचारी प्राह। देव त्वमीश्वरस्त्वया किमसाध्यम्।

फिर आश्चर्यकी उक्तिसे प्रसन्न हुआ राजा तिसको फिर लाख रुपैये देता भया। फिर द्वारपाल कहने लगा। हे देव!

श्रीशैलसे आया हुआ कोई ब्रह्मचर्यनिष्ठ विद्वान् द्वारपर खडा है। राजा कहने लगा भेजो। फिर ब्रह्मचारी आकर 'चिरं जीव' ऐसे कहता भया। राजा तिसको पूंछने लगा! हे ब्रह्मन्! बालकअवस्थामेंही कलिकालके अननुरूप अर्थात् कलियुगमें नहीं बनने लायक आपका कौनसा प्रसिद्ध व्रत है। क्योंकि आप दिन २ प्रति उपवास करके कृश हो रहे हो। किसी ब्राह्मणकी कन्या मैं दिवाऊंगा। जो तुम गृहस्थ-धर्मको अंगीकार करोगे तो। ब्रह्मचारी कहने लगा कि, हे देव! तू ईश्वर है, तुमको कोई बात मुशकिल नहीं ॥

सारंगाः सुहृदो गृहं गिरिगुहा शांतिः प्रिया गेहिनी।
वृत्तिर्वह्लिलताफलैर्निवसनं श्रेष्ठं तरूणां त्वचः ॥
त्वद्ध्यानामृतपूरमग्नमनसां येषामियं निर्वृति-।
स्तेषामिंदुकलावतंसयमिनां मोक्षेपि नो न स्पृहा२७१

हे देव! मेरे मित्र तो पशु पक्षी हैं, और पर्वतकी गुफा घर है और प्यारी शांति घरवाली है और अग्नि, फल, बेल इन्होंकरके मेरी आजीवका है और वृक्षोंका वल्कल श्रेष्ठ वस्त्र है। तेरे ध्यानरूप अमृतपूरसे जिन्होंका मन भरा हुआ प्रसन्न है उन्होंके यही (गृहस्थसुख) आनंद है। किंतु चंद्र-कला है मुकुटमें जिसके ऐसे शिवके नेमवालोंके हमारी मोक्ष-मेंभी वांछा नहीं है ॥ २७१ ॥

राजा उत्थाय पादयोः पतति आह च। ब्रह्मन् मया किं कर्त्तव्यमिति। स आह। देव वयं काशीं जिगमि-

षवस्तत एकं विधेहि। ये त्वत्सदने पंडितवराः तान् सर्वानपि सपत्नीकान् काशीं प्रति प्रेषय। ततोहं गो- ष्ठीतृप्तः काशीं गमिष्यामीति। राजा तथा चक्रे। त- तस्सर्वे पंडितवरास्तदाज्ञया प्रस्थिताः। कालिदास एको न गच्छति स्म। तदा राजा कालिदासं प्राह। सुकवे त्वं कुतो न गतोसीति। ततः कालिदासो राजा- नं प्राह। देव सर्वज्ञोसि॥

राजा उठकर चरणोंमें गिर गया और कहने लगा। हे ब्रह्मन्! मैंने क्या कर्तव्य है। वह कहने लगा। हे देव! हम काशीजी जानेकी इच्छा करते हैं इसवास्ते एक बात करो! जो तुम्हारे स्थानमें पंडितवर हैं स्त्रीसहित तिन संपू- र्णोंको काशीजीमें भेजो। फिर मैं गोष्ठीमें तृप्त हुआ काशी- जीको जाऊंगा। राजा फिर तैसेही करता भया। फिर संपूर्ण पंडितवर तिसकी आज्ञाकरके काशीको चल पडे। एक कालिदास नहीं जाता भया। तब राजा कालिदासको कहने लगा। हे सुकवे! तू किसवास्ते नहीं गया। फिर कालिदास राजाको कहने लगा। हे देव! तुम तो सर्वज्ञ हो॥

ते यांति तीर्थेषु बुधा ये शंभोर्दूरवर्त्तिनः॥
यस्य गौरीश्वरश्चित्ते तीर्थं भोज परं हि सः॥२७२॥

हे भोज! जो पंडित महादेवजीसे दूर रहनेवाले हैं सो तीर्थोंके विषे जाते हैं। और जिसके चित्तमेंही गौरीश्वर है सो आपही परम तीर्थ है॥ २७२॥

ततो विद्वत्सु काशीं गतेषु राजा कदाचित्सभायां कालिदासं पृच्छति स्म । कालिदास अद्य किमपि श्रुतं किं त्वयेति । स आह ॥

फिर जब विद्वान् काशीको चले गये तब कदाचित् राजा सभामें कालिदासको पूंछता भया कि, हे कालिदास ! आज तैंने कुछ सुना क्या । वह कहने लगा ॥

मेरौ मंदरकंदरासु हिमवत्सानौ महेंद्राचले ।
कैलासस्य शिलातलेषु मलयप्राग्भारभागेष्वपि ॥
सह्याद्रावपि तेषु तेषु बहुशो भोज श्रुतं ते मया ।
लोकालोकविचारचारणगणैरुद्गीयमानं यशः ॥२७३॥

सुमेरुमें, मंदराचलकी गुफाओंमें, हिमाचलमें, महेंद्राचलमें, कैलासकी शिलाओंमें, मलयाचलके प्राग्भारमें, सह्याद्रिमेंभी हे भोज ! तिन तिनों विषै बहुत वार लोकालोकमें फिरनेवाले जो चारणगण हैं तिन्होंकरके गाया हुआ तुम्हारा यश मैंने सुना है ॥ २७३ ॥

ततश्चमत्कृतो राजा प्रत्यक्षरलक्षं ददौ । ततः कदाचिद्राजा विद्वद्वृंदं निर्गतं कालिदासं च अनवरतवेश्यालंपटं ज्ञात्वाप्यचिंतयत् । अहह बाणमयूरप्रभृतयो मदीयामाज्ञां व्यदधुः । अयं च वेश्यालंपटतया ममाज्ञां नाद्रियते किं कुर्म इति । ततो राजा सावज्ञं कालिदासमपश्यत् । तत आत्मनि राज्ञोवज्ञां ज्ञात्वा कालिदासो बल्लालदेशं गत्वा तद्देशाधिनाथं प्राप्य

प्राह। देव मालवेंद्रस्य भोजस्यावज्ञया त्वद्देशं प्राप्तोऽहं कालिदासनामकविरिति। ततो राजा तमासने उपवेश्य प्राह। सुकवे भोजसभाया इहागतैः पंडितैस्समुदितः शतशस्ते महिमा। सुकवे त्वां सरस्वतीं वदंति ततः किमपि पठेति। ततः कालिदास आह॥

फिर चमत्कृत हुआ राजा अक्षर २ प्रति लाख २ रुपैये देता भया। फिर किसी समयमें राजा विद्वद्वृन्दको गया हुआ जानकर और कालिदासको निरंतर वेश्यालंपट जानकर चिंतन करता भया। बडा खेद है, बाण मयूर आदि विद्वान् तो मेरी आज्ञाको मानते भये और यह वेश्यालंपट कालिदास मेरी आज्ञाको नहीं मानता भया क्या करें। फिर राजा कालिदासको कसूरवाला देखता भया। फिर कालिदास अपनेमें राजाकी करी अवज्ञा मानकर बल्लालदेशको जाकर तिस देशके राजाको प्राप्त होकर कहने लगा। हे देव! मालवेन्द्र भोजराजाकी अवज्ञाकरके तेरे देशको कालिदास नाम मैं कवि प्राप्त हुआ हूं। फिर राजा तिसको आसनपर बैठाकर कहने लगा। हे सुकवे! भोजसभासे यहां आये हुए जो सैकडों पंडित हैं तिन्होंने तुम्हारी श्लाघा कह रखी है। हे सुकवे! तेरेको सरस्वती कहते हैं, इसवास्ते कुछ पढो। फिर कालिदास कहने लगा॥

बल्लालक्षोणिपाल त्वदहितनगरे संचरंती किराती।
कीर्णान्यादाय रत्नान्युरुतरखदिरांगारशंकाकुलांगी॥

क्षिप्त्वा श्रीखंडखंडं तदुपरिमुकुलीभूतनेत्रा धमंती ।
श्वासामोदानुपातैर्मधुकरनिकरैर्धूमशंकां बिभर्ति ॥

हे बल्लालक्षोणिपाल ! तुम्हारे शत्रुओंके नगरमें फिरती हुई किराती (भीलनी) बिखरे हुए रत्नोंको लेकर फिर चमकते हुए बडे भारी खैरके अंगारोंकी शंका करके (अंगार जानके) व्याकुल अंगवाली हुई तिनके ऊपर चंदनका टुकडा गेरकर नेत्रोंको मीचकर धमती हुई किराती श्वासकी सुगंधकरके आये हुए भौंरोंके समूहोंकरके धूमकी शंकाको धारण करती है ॥ २७४ ॥

ततस्तस्मै प्रत्यक्षरलक्षं ददौ । ततः कदाचिद्बल्लालराजा कालिदासं पप्रच्छ । सुकवे एकशिलानगरीं व्यावर्णयेति । ततः कविराह ॥

फिर तिसको अक्षर २ प्रति राजा लाख २ रुपैये देता भया। फिर किसी समयमें बल्लालराजा कालिदासको पूंछता भया। हे सुकवे! एकशिला नगरीको वर्णन करो। फिर कालिदास कहने लगा ॥

अपांगपातैरपदेशपूर्वै ।
रेणीदृशामेकशिलानगर्याम् ॥
वीथीषु वीथीषु विनापराधं ।
पदे पदे शृंखलिता युवानः ॥ २७५ ॥

एकशिला नगरीमें मृगसरीखे नेत्रोंवाली स्त्रियोंके तिरस्कारपूर्वक कटाक्षोंकरके गली गलियोंमें और पैड पैडोंमें विना अपराध जवान लोग बेडियोंमें आ गये ॥ २७५ ॥

पुनश्च प्रत्यक्षरलक्षं ददौ । कविः पुनश्च पठति ॥

फिरभी वह बल्लाल राजा अक्षर २ प्रति लाख २ रुपैये देता भया । कवि फिर पढने लगा ॥

अंभोजपत्रायतलोचनाना- ।
मंभोधिदीर्घास्विह दीर्घिकासु ॥
समागतानां कुटिलैरपांगै- ।
रनंगबाणैः प्रहता युवानः ॥ २७६ ॥

यहां समुद्रसरीखी बडी भारी बावडियोंमें आई हुई कमलपत्रोंसरीखे बडे नेत्रोंवाली स्त्रियोंके कुटिल कटाक्षरूप कामदेवके बाणोंकरके जवान मारे गये ॥ २७६ ॥

पुनश्च बल्लालनृपः प्रत्यक्षरलक्षं ददौ । एवं तत्रैव स्थितः कालिदासः । अत्रांतरे धारानगर्यां भोजं प्राप्य द्वारपालः प्राह । देव गुर्जरदेशात् माघनामा पंडितवर आगत्य नगराद्बहिरास्ते । तेन च स्वपत्नी राजद्वारि प्रेषिता । राजा तां प्रवेशयेत्याह । ततो माघपत्नी प्रवेशिता सा राजहस्ते पत्रं प्रायच्छत् । राजा तदादाय वाचयति ॥

फिर बल्लालदेशका राजा अक्षर २ प्रति लाख २ रुपैये देता भया । ऐसे तिसी जगह कालिदास स्थित होता भया । इस अवसरमें धारानगरीमें भोजको प्राप्त होकर द्वारपाल कहने लगा । हे देव ! गुर्जरदेशसे माघनामा पंडितवर आकर नगरसे बाहर स्थित हो रहा है । और तिसने अपनी स्त्री

राजद्वारपर भेजी है। राजा कहने लगा कि तिसको आने दो। फिर वह माघकी स्त्री वहां जाकर राजाके हाथमें पत्र देती भई। राजा तिसको लेकर बांचता भया ॥

कुमुदवनमपश्रि श्रीमदंभोजषंडं ।
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः ॥
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं ।
हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः ॥ २७७ ॥

सूर्य उदयको प्राप्त होत संते और चंद्रमा अस्तको प्राप्त होत संते कुमुदवनकी शोभा बिगड गई। और कमलसमूहमें शोभा आ गई। उल्लूका आनंद जाता रहा और चकवा प्रसन्न हो गया (ऐसे) भाग्यहतोंका कर्मफल विचित्रही है ॥ २७७ ॥

इति राजा तद्वृत्तं प्रभातवर्णनमाकर्ण्य लक्षत्रयं दत्त्वा माघपत्नीमाह । मानिनि इदं भोजनाय दीयते प्रातरहं माघपंडितं आगत्य नमस्कृत्य पूर्णमनोरथं करिष्यामीति । ततः सा तदादाय गच्छंती याचकानां मुखात्स्वभर्तुः शारदचंद्रकिरणगौरान् गुणान् श्रुत्वा तेभ्य एव धनमखिलं भोजदत्तं दत्तवती । माघपंडितं स्वभर्तारमासाद्य प्राह । नाथ राजा भोजेनाहं बहु मानिता धनं सर्वं याचकेभ्यस्त्वद्गुणानाकर्ण्य दत्तवती । माघः प्राह । देवि साधु कृतं परमेते याचकाः समायांति किल तेभ्यः किं देयमिति । ततो माघपंडितं वस्त्रावशेषं ज्ञात्वा कोप्यर्थी प्राह ॥

ऐसे राजा तिस पत्रमें लिखे प्रभातवर्णनको सुनकर तीन लाख रुपैये माघकी स्त्रीको देकर कहने लगा कि, हे मातः! यह तेरेको भोजनके वास्ते दिये हैं और प्रातःकाल माघ पंडितके पास आकर नमस्कार करके पूर्ण मनोरथ करूंगा। फिर वह माघपत्नी धन लेकर चली और याचकोंके मुखसे अपने भर्ताके अस्तुनके चंद्रमाकी किरणोंकेसे गुण सुने तब सुनकर राजका दिया हुआ संपूर्ण धन तिन्होंकोही देती भई। फिर अपने भर्ता माघ पंडितको प्राप्त होकर कहने लगी। हे नाथ! मैं राजा भोजको बहुत मानी (परंतु) तुम्हारे गुण सुनकर संपूर्ण धन याचकोंको दे दिया, माघ कहने लगा। हे देवि! अच्छा किया, परंतु ये याचक आते हैं निश्चय इनके वास्ते क्या देना चाहिये। फिर माघ पंडितको वस्त्रावशेष जानकर कोई याचक कहने लगा॥

आश्वास्य पर्वतकुलं तपनोष्णतप्त-।
उद्दामदावविधुराणि च काननानि॥
नानानदीनदशतानि च पूरयित्वा।
रिक्तोसि यज्जलद सैव तवोत्तमश्रीः॥ २७८॥

हे मेघ! सूर्यकी गरमीसे तप्त हुए पर्वतकुलको आश्वासन (धीरज) कराके और वनोंको तेज दावाग्निसे शांत करके और सैकडों नद नदियोंको पूर्ण करके जो तू रीता हुआ है सोही तेरी उत्तम शोभा है॥ २७८॥

इत्येतदाकर्ण्य माघः स्वपत्नीमाह। देवि॥
यह सुनकर माघ अपनी स्त्रीको कहने लगा। हे देवि!॥

अर्था न संति न च मुंचति मां दुराशा ।
त्यागे रतिं वहति दुर्ललितं मनो मे ॥
याञ्चा च लाघवकरी स्ववधे च पापं ।
प्राणाः स्वयं व्रजत किं परिदेवनेन ॥ २७९ ॥

मेरे धन नहीं है और मेरेको खोटी आशा (तृष्णा) नहीं त्यागती है और दुर्ललित मेरा मन त्यागमें प्रसन्नताको प्राप्त होता है। और याचना लाघव करनेवाली है और आप मरनेमें पाप लगता है । इसवास्ते विलाप करके क्या है । मेरे प्राण आपही चले जावें ॥ २७९ ॥

दारिद्र्यानलसंतापश्शांतस्संतोषवारिणा ॥
याचकाशाविघातांतर्दाहः केनोपशाम्यतीति ॥२८०॥

दारिद्र्यरूप अग्निसे उत्पन्न हुआ ताप संतोषरूप जलसे शांत हो जाता है । परंतु याचकोंकी आशा भंग करके जो भीतरका दाह है वह किससे शांत होवे अर्थात् किसी चीजकरकेभी नहीं शांत होवे ॥ २८० ॥

ततस्तदा माघपंडितस्य तामवस्थां विलोक्य सर्वे याचकाः यथास्थानं जग्मुः । एवं तेषु याचकेषु यथायथं गच्छत्सु माघः प्राह ॥

फिर तब माघ पंडितकी तिस अवस्थाको देखकर संपूर्ण याचक अपने स्थानमें जाते भये । ऐसे वे याचक अपने अपने स्थानोंमें जब चले गये तब माघ कहने लगा ॥

व्रजत व्रजत प्राणा अर्थिभिर्व्यर्थतां गतैः ॥
पश्चादपि च गंतव्यं क्व सोर्थः पुनरीदृशः ॥ २८१ ॥

प्राण जाते हैं तो जावो जो याचक व्यर्थ चले गये। क्योंकि फिर इन प्राणोंको जाना तो हैही, फिर ऐसा प्रयोजन कौन है, जिसके वास्ते ये ठहर रहे हैं ॥ २८१ ॥

इति विलपन् माघपंडितः परलोकमगात्। ततो माघपत्नी स्वामिनि परलोकं गते सति प्राह ॥

ऐसे विलाप करता हुआ माघ पंडित परलोकको प्राप्त होता भया। फिर जब स्वामी परलोकमें चले गये तब माघकी स्त्री कहने लगी ॥

सेवंते स्म गृहे यस्य दासवद्भूभुजस्सदा ॥
स स्वभार्यासहायोयं म्रियते माघपंडितः ॥ २८२ ॥

जिसके घरको राजा सदा दासकी तरह सेवन करते हैं, अपनी भार्या है सहाय जिसको सो यह माघ पंडित मृत्युको प्राप्त होता है ॥ २८२ ॥

ततो राजा माघं विपन्नं ज्ञात्वा निजनगराद्विप्रशतावृतो मौनी रात्रावेव तत्रागात्। ततो माघपत्नी राजानं वीक्ष्य प्राह। राजन् यतः पंडितवरस्त्वद्देशं प्राप्तः परलोकमगात् ततोस्य कृत्यशेषं सम्यगाराधनीयं भवतेति। ततो राजा माघं विपन्नं नर्मदातीरं नीत्वा यथोक्तेन विधिना संस्कारमकरोत् तत्र च माघपत्नी वह्नौ प्रविष्टा। तयोश्च पुत्रवत् सर्वं चक्रे भोजः। ततो माघे दिवं गते राजा शोकाकुलो विशेषेण कालिदासवियोगेन च पंडितानां प्रवासेन कृशोभूद्दिने दिने बहुलप-

क्षशशीव । ततोऽमात्यैर्मिलित्वा चिंतितम् बल्लालदेशे कालिदासो वसति । तस्मिन्नागते राजा सुखी भविष्यतीति। एवं विचार्यामात्यैः पत्रे किमपि लिखित्वा ततः पत्रं चैकस्यामात्यस्य हस्ते दत्त्वा प्रेषितम् । स कालक्रमेण कालिदासमासाद्य राज्ञोऽमात्यैः प्रेषितोस्मीति नत्वा तत्पत्रं दत्तवान् । ततस्तत्कालिदासो वाचयति॥

फिर राजा माघको मरा हुआ जानकर सैकडों ब्राह्मणोंसे युक्त हुआ मौनी राजा रात्रिकोही तहां आता भया । फिर माघपत्नी राजाको देखकर कहने लगी । हे राजन् ! जिससे पंडितवर तेरे देशको प्राप्त होकर परलोकको प्राप्त होता भया, इसलिये इसका कृत्यशेष तुमने अच्छी तरह आराधन करना । फिर राजा मरे हुए माघको नर्मदाके तीर ले जाकर यथोक्त विधिकरके संस्कार करता भया, और तहां माघपत्नीभी अग्निमें प्रविष्ट होती भई । तिन्होंकी संपूर्ण क्रिया भोज राजा पुत्रकी तरह करता भया अर्थात् जैसे पिताकी क्रिया पुत्र करता है तैसे क्रिया करता भया । फिर जब माघ स्वर्गको चला गया तब शोकसे व्याप्त हुआ विशेषकरके कालिदासके वियोगसे और पंडितोंके प्रवाससे (परदेशमें चले जानेसे) व्याकुल हुआ राजा दिन दिनमें ऐसे कृश होता भया मानो कृष्णपक्षमें चंद्रमा। फिर मंत्रियोंने आपसमें मिलकर सलाह करी कि, बल्लालदेशमें कालिदास बसता है वह आवे तो राजा सुखी होवे । ऐसे विचार

कर मंत्रियोंने पत्रमें कुछ लिखकर एक मंत्रीके हाथमें पत्र देकर तहां भेज दिया । वह कालक्रम करके कालिदासको प्राप्त होकर राजाके मंत्रियोंने भेजा हूं ऐसे कहकर कालिदासको नमस्कार करके पत्र देता भया । फिर तिसको कालिदास बांचता भया ॥

न भवति भवति न चिरं भवति चिरं चेत्
फले विसंवादी ॥ कोपः सत्पुरुषाणां तुल्यः
स्नेहेन नीचानाम् ॥ २८३ ॥

सत्पुरुषोंके कोप होता नहीं । जो होवे तो बहुत वार नहीं होता । जो बहुत वार होवे तो उसका फल अच्छा होता है । इसवास्ते श्रेष्ठोंका कोपभी नीचोंके स्नेहके समान होता है ॥

सहकारे चिरं स्थित्वा सलीलं बालकोकिल ॥
तं हित्वाद्यान्यवृक्षेषु विचरन्न विलज्जसे ॥ २८४ ॥

हे बालकोकिल ! लीलासहित आमके वृक्षपर बहुत ठहरकर अब आमको त्यागकर और वृक्षोंपर विचरता हुआ तू लज्जित नहीं होता है क्या ॥ २८४ ॥

कलकंठ यथा शोभा सहकारे भवद्गिरः ॥
खदिरे वा पलाशे वा किं तथा स्याद्विचारयेति॥२८५

हे सुंदर कंठवाले कोयल ! तेरी वाणीकी शोभा जैसी आमके वृक्षपर है वैसी खैर और ढाकपर क्या है ? सो ऐसे विचार तो कर ॥ २८५ ॥

ततः कालिदासः प्रभाते तं भूपालमापृच्छ्य मालवदेशमागत्य राज्ञः क्रीडोद्याने तस्थौ । ततो राजा च तत्रागतं ज्ञात्वा स्वयं गत्वा महता परिवारेण तमानीय संमानितवान् । ततः क्रमेण विद्वन्मंडले च समायाते सा भोजपरिषत् प्रागिव रेजे । ततः सिंहासनमलंकुर्वाणं भोजं द्वारपाल आगत्य प्रणम्याह । देव कोपि विद्वान् जालंधरदेशादागत्य द्वार्यास्त इति । राजा प्रवेशयेत्याह । स च विद्वानागत्य सभायां तथाविधं राजानं जगन्मान्यान् कालिदासादीन् कविपुंगवान्वीक्ष्य बद्धजिह्व इवाजायत । सभायां किमपि तस्य मुखान्न निस्सरति । तदा राज्ञोक्तं विद्वन् किमपि पठेति । स आह ॥

फिर कालिदास प्रभातमें तिस राजाको पूंछकर और मालवदेशमें आकर राजाके बगीचामें स्थित होता भया। फिर राजा तहां आये कालिदासको जानकर बहुत परिवारसे आप जाकर और लाकर संमान करते भये । फिर क्रमकरके विद्वन्मंडल आया, पीछे वह भोजकी सभा पहलेकी तरह शोभाको प्राप्त होती भई । फिर सिंहासनपर बैठे राजा भोजको द्वारपाल आकर प्रणाम करके कहने लगा, हे देव ! कोई विद्वान् जालंधरदेशसे आकर बाहर खडा है । राजा कहने लगा आने दो । वह विद्वान् सभामें आकर तैसे बैठे राजाको और कालिदास आदि जगत्के मान्य कविश्रेष्ठोंको देखकर

रुकी जिह्वावालेकी तरह होता भया । सभामें कुछ उसके मुखसे नहीं निकला । तब राजाने कहा हे विद्वन् ! कुछ कहो । वह कहने लगा ॥

आरनालगलदाहशंकया ।
मन्मुखादपगता सरस्वती ॥
तेन वैरिकमलाकचग्रह- ।
व्यग्रहस्त न कवित्वमस्ति मे ॥ २८६ ॥

हे शत्रुओंकी राजलक्ष्मीके केशोंको पकडनेमें व्यग्र (निरंतर संलग्न) हाथोंवाले भोजराज ! कांजी (खट्टा धान्यविशेष) की शंका करके (तकलीफसे) मेरे मुखसे सरस्वती- (वाणी) चली गई । इससे मेरे कविता नहीं है ॥ २८६ ॥

राजा तस्मै महिषीशतं ददौ । अन्यदा राजा कौतुकाकुलस्सीतां प्राह । देवि सुरतं पठेति । सीता प्राह

राजा तिस पंडितको सौ भैंस देता भया । एक समय राजा आश्चर्यके वश हुआ सीताको कहने लगा । हे देवि ! सुरतको पढो । सीता कहने लगी ॥

सुरताय नमस्तस्मै जगदानंदहेतवे ॥
आनुंपगि फलं यस्य भोजराज भवादृशः ॥ २८७ ॥

हे भोजराज ! जगत्के आनंदका हेतु तिस सुरत (मैथुन) को नमस्कार है । जिसका फल तुम्हारे सरीखोंका मिलाप ॥ २८७ ॥

ततस्तुष्टो राजा तस्यै हारं ददौ । राजा ततश्चामरग्राहिणीं वेश्यामवलोक्य कालिदासं प्राह ।

सुकवे वेश्यामेनां वर्णयेति । तामवलोक्य कालिदासः प्राह ॥

फिर प्रसन्न हुआ राजा रानीको हार देता भया । फिर राजा चमर लेनेवाली वेश्याको देखकर कालिदासको कहने लगा । हे सुकवे ! इस वेश्याका वर्णन करो । तिसको देखकर कालिदास कहने लगा ॥

कचभारात्कुचभारः कुचभाराद्भीतिमेति कचभारः ॥ कचकुचभाराज्जघनं कोऽयं चंद्रानने चमत्कारः ॥ २८८ ॥

हे चंद्रमे मुखवाली ! यह क्या चमत्कार है कि कचभारसे कुचभार भयको प्राप्त होता है और कुचभारसे कचभार (केशोंका भार) भयको प्राप्त होता है अर्थात् ये सब हिलते हैं सो मानो आपसके भयसेही कांपते हैं ॥ २८८ ॥

भोजस्तुष्टस्सन् स्वयमपि पठति ॥

फिर प्रसन्न हुआ राजा आपभी पढता भया ॥

वदनात्पदयुगलीयं वचनादधरश्च दंतपंक्तिश्च ॥
कचतः कुचयुगलीयं लोचनयुगलं च मध्यतस्त्रसति ॥

इसके मुखसे यह चरणोंकी जोडी (दोनों चरण) डरते हैं और वचनसे ओंठ तथा दांतोंकी पंक्ति डरती है और केशोंसे ये दोनों कुचा डरती हैं और दोनों नेत्र कटिभाग (कटि) से डरते हैं ॥ २८९ ॥

अन्यदा भोजो राजा धारानगरे एकाकी विचरन् कस्यचिद्विप्रवरस्य गृहं गत्वा तत्र कांचन पतिव्रतां

स्वांके शयानं भर्तारमुद्वहंतीं पश्यन् ततः तस्याः शिशुः सुप्तोत्थितः ज्वालायाः समीपमगच्छत् । इयं च पतिधर्मपरायणा स्वपातिं नोत्थापयामास । ततः शिशुं च वह्नौ पतंतं नागृह्णात् । राजा चाश्चर्यमालोक्यातिष्ठत् । ततः सा पतिधर्मपरायणा वैश्वानरमप्रार्थयत् । यज्ञेश्वर त्वं सर्वकर्मसाक्षी सर्वधर्मान् जानासि मां पतिधर्मपराधीनां शिशुमगृह्णंतीं च जानासि ततो मदीयशिशुमनुगृह्य त्वं मा दहेति । ततः शिशुर्यज्ञेश्वरं प्रविष्य तं च हस्तेन गृहीत्वार्धघटिकापर्यंतं तत्रैवातिष्ठत् ततश्चारोदीत् प्रसन्नमुखश्च शिशुः सा च ध्यानारूढातिष्ठत् । ततो यदृच्छया समुत्थिते भर्तरि सा झटिति शिशुं जग्राह । तं च परमधर्ममालोक्य विस्मयाविष्टो नृपतिराह । अहो मम भाग्यं कस्यास्ति । यदीदृश्यः पुण्यस्त्रियोपि मन्नगरे वसंतीति । ततः प्रातः सभायामागत्य सिंहासन उपविष्टो राजा कालिदासं प्राह सुकवे महदाश्चर्यं मया पूर्वेद्यू रात्रौ दृष्टमस्तीत्युक्त्वा राजा पठति ॥

एक सयय राजा भोज धारानगरमें एकला विचरता हुआ किसी ब्राह्मणके घरमें जाकर तहां अपनी गोदमें सोते हुए भर्ताको लिये किसी पतिव्रताको देखता हुआ, फिर तिसका बालक सोता हुआ उठकर अग्निके पास जाता भया । फिरभी यह पतिधर्ममें तत्पर स्त्री अपने पतिको नहीं उठाती भई । फिर बालकको अग्निमें पडते हुएको नहीं

ग्रहण करती भई । राजा आश्चर्यको देखकर ठहरता भया । फिर वह पतिधर्ममें तत्पर अग्निकी प्रार्थना करती भई । हे यज्ञेश्वर ! तू संपूर्ण कर्मोंका साक्षी है, संपूर्ण धर्मोंको जानता है, मैं पतिधर्ममें पराधीन बालकको नहीं ग्रहण करती हुईको तुम जानो हो, इसवास्ते मेरे बालकपर अनुग्रह करके दग्ध मत कर । फिर बालक यज्ञेश्वरको प्राप्त होकर तिसको हाथकरके ग्रहण करके आधी घटीपर्यंत तहां ठहरता भया, फिर रोता भया बालक प्रसन्न मुख रहता भया, पतिव्रता ध्यानमें स्थित होती भई । फिर जब स्वभावसे भर्ता उठा तब वह जल्दी बालकको ग्रहण करती भई । तिस परम धर्मको देखकर आश्चर्ययुक्त राजा कहने लगा । अहो, मेरेकेसा भाग्य किसका है । जिससे ऐसी पुण्यवती मेरे नगरमें वसती है । फिर प्रातःकाल सभामें आकर सिंहासनपर बैठा राजा कालिदासको कहने लगा । हे सुकवे ! मैंने कल रात्रिको बडा आश्चर्य देखा ऐसे कहकर राजा पढने लगा ॥

हुताशनश्चंदनपंकशीतल इति ॥
अग्नि चन्दनकी कीचकेसा ठंढा हो गया ॥
कालिदासस्ततश्चरणत्रयं झटिति पठति ॥
फिर कालिदास तीन चरण जल्दीसे पढता भया ॥

सुतं पतंतं प्रसमीक्ष्य पावके ।
न बोधयामास पतिं पतिव्रता ॥
तदाभवत्तत्पतिभक्तिगौरवात् ।
हुताशनश्चंदनपंकशीतलः ॥ २९० ॥

पुत्रको अग्निमें पड़ा हुआ देखकर पतिव्रता स्त्री पतिको नहीं जगाती भई। तिस समय तिसके पतिभक्तिके गौरवसे अग्नि चंदनकी कीचकी तरह ठंढी हो गई ॥ २९० ॥

राजा च स्वाभिप्रायमालोक्य विस्मितस्तमालिंग्य पादयोः पतति स्म । एकदा ग्रीष्मकाले राजा अंतःपुरे विचरन् घर्मतापतप्तः आलिंगनादिकमकुर्वन् ताभिः सह सरससंलापाद्युपचारमनुभूय तत्रैव सुप्तः। ततः प्रातरुत्थाय राजा सभां प्रविष्टः कुतूहलात् पठति ॥

राजा अपने अभिप्रायको देखकर आश्चर्ययुक्त हुआ, कालिदाससे मिलकर चरणोंमें गिर गया। एक समय ग्रीष्म कालमें राजा रणवासमें विचरता हुआ धूपकी गरमीसे तप्त हुआ आलिंगन आदि नहीं करता हुआ और रानियोंके साथ सरसवार्ता आदि उपचारके सुखको अनुभव करके वहीं सो गया। फिर प्रातःकाल राजा सभामें प्रविष्ट हुआ आनंदसे पढने लगा ॥

मरुदागमवार्तयापि शून्ये ।
समये जाग्रति संप्रवृद्ध एव ॥

पवन आनेकी बातभी जहां नहीं ऐसे संप्रवृद्ध समयके प्रबल होनेपर ॥

भवभूतिराह–
उरगी शिशवे बुभुक्षवे स्वा- ।
मदिशत्फूत्कृतिमानानिलेन ॥ २९१ ॥

भवभूति बोला । सर्पिणी अपने भूखे बालकको मुखकी वायु करके अपनी फुंकार देती भई ॥ २९१ ॥

राजा प्राह । भवभूते लोकोक्तिस्सम्यगुक्तेति । ततोपांगेन राजा कालिदासं पश्यति । ततस्स आह ॥

ऐसे सुन राजा कहने लगा, हे भवभूते ! लोकोक्ति अच्छी कही । फिर कटाक्षसे राजा कालिदासको देखने लगा । फिर कालिदास कहने लगा ॥

अबलासु विलासिनोन्वभूव- ।
न्नयनैरेव नवोपगूहनानि ॥ २९२ ॥

(ऐसी उस समयपर) विलासी (भोगी) पुरुषके स्त्रियोंविषें नवीन मिलाप नेत्रोंकरके होने लगे अर्थात् विलासी पुरुष स्त्रियोंको नेत्रोंसेही देखने प्रसन्न होने लगे । मिलनेमें गर्मी मालूम होती भई ॥ २९२ ॥

तदा राजा स्वाभिप्रायं ज्ञात्वा तुष्टः । कालिदासं विशेषेण सम्मानितवान् । अन्यदा मृगयापरवशो राजा अत्यंतश्रान्तः कस्यचित्सरोवरस्य तीरे निबिडच्छायस्य जंबूवृक्षस्य मूलमुपाविशत् । तत्र शयाने राज्ञि जंबोरुपरि बहुभिः कपिभिः जंबूफलानि सर्वाण्यपि चालितानि । तानि सशब्दं पतितानि पश्यन् घटिकामात्रं स्थित्वा श्रमं परिहृत्य उत्थाय तुरंगमवरमारुह्य गतः । ततस्सभायां राजा पूर्वानुभूतकपिचलितफलपतनरवमनुकुर्वन् समस्यामाह । 'गुलुगुग्गुलुगुग्गुलु' तत आह कालिदासः ॥

फिर राजा अपने अभिप्रायको जानकर प्रसन्न हो गया। और कालिदासको विशेषकरके मानता भया। एक समय शिकारके वशमें अत्यंत आकुल हुआ राजा सरोवरके तीरपर सघन छायावाले जामुनके वृक्षकी जडके पास बैठता भया। जब राजा लेटा (सोया) तब जामनके ऊपर चढकर बहुतसे वानरोंने टहनी हिलाकर संपूर्ण जामनके फल गिरा दिये। तब तिन फलोंको शब्दसहित पडते देखकर एक घडी तहां ठहर खेदको दूर कर फिर उठकर घोडेपर सवार होकर राजा चला गया। फिर सभामें राजा पहले देखे हुए जामनके फलोंके पडनेका अनुकरण करता हुआ समस्या कहने लगा। (गुलुगुगुलुगुग्गुलु) फिर कालिदास कहने लगा॥

जंबूफलानि पक्वानि पतंति विमले जले॥
कपिकंपितशाखातो गुलुगुग्गुलुगुग्गुलु॥ २९३॥

वानरोंकी कंपाई हुई जामनकी टहनियोंसे पके हुए जामनके फल सुंदर जलमें पडे। तब शब्द हुआ कि गुलुगुग्गुलुगुग्गुलु॥ २९३॥

राजा तुष्ट आह। सुकवे अदृष्टमपि परहृदयं कथं जानासि साक्षाच्छारदासीति मुहुर्मुहुः पादयोः पतति स्म। एकदा धारानगरे प्रच्छन्नवेषो विचरन् कस्यचिद्वृद्धब्राह्मणस्य गृहं राजा मध्याह्नसमये गच्छन् तत्र तिष्ठति स्म। तदा वृद्धविप्रो वैश्वदेवं कृत्वा काकबलिं गृह्णन् गृहान्निर्गत्य भूमौ जलशुद्धायां निक्षिप्य काक-

माह्वयति स्म । तत्र हस्तविस्फालनेन हाहेतिशब्देन च काकास्समायाताः । तत्र कश्चित्काकस्तारं रारटीति स्म । तच्छ्रुत्वा तत्पत्नी तरुणी भीतेव हस्तं निजोरसि निधाय अये मातरिति चक्रंद । ततो ब्राह्मणः प्राह । प्रिये साधुशीले किमर्थं बिभेषीति । सा प्राह । नाथ मादृशीनां पतिव्रतास्त्रीणां क्रूरध्वनिश्रवणं सह्यं वा । साधुशीले तथा भवेदेवेति विप्र आह । ततो राजा तच्चरितं सर्वं दृष्ट्वा व्यचिंतयत् । अहो इयं तरुणी दुश्शीला नूनम् । यतो निर्व्याजं बिभेति स्वपातिव्रत्यं स्वयमेव कीर्तयति च । नूनमियं निर्भीता सती अत्यंतं दारुणं कर्म रात्रौ करोत्येव । एवं निश्चित्य राजा तत्रैव रात्रावंतर्हित एवातिष्ठत् । अथ निशीथे भर्तरि सुप्ते सा मांसपेटिकां वेश्याकरेण वाहयित्वा नर्मदातीरमनुगच्छत् । राजाप्यात्मानं गोपयित्वानुगच्छति स्म । ततस्सा नर्मदां प्राप्य तत्र समागतानां ग्राहाणां मांसं दत्त्वा नदीं तीर्त्वा अपरतीरस्थेन शूलाग्रारोपितेन स्वमनोरमेण सह रमते स्म । तच्चरित्रं दृष्ट्वा राजा गृहं समागत्य प्रातस्सभायां कालिदासमालोक्य प्राह । सुकवे शृणु ॥

राजा प्रसन्न हुआ कहने लगा । हे सुकवे ! बिना देखे परहृदयको कैसे जानते हो, तुम साक्षात् सरस्वतीका अवतार हो, ऐसे कहकर बारंबार चरणोंमें पडता भया । एक समय राजा गुप्तरूप धारण कर धारानगरमें विचरता हुआ

किसी ब्राह्मणके घर जाकर मध्याह्नसमयमें तहां ठहरता भया। तब वृद्ध ब्राह्मण वैश्वदेव करके काकबलि ग्रहण करता हुआ घरसे निकल कर शुद्ध भूमिमें जल गेरकर काकोंको बुलाने लगा। तहां हाथ उठाकर आ आ शब्द करके काक आ गये। तहां कोई काक ऊंचे शब्दसे रटने लगा। तिसको सुनकर तिसकी जवान स्त्री डरी हुईकी तरह अपनी छातीपर हाथ धरकर अये मा! ऐसे पुकारती भई। फिर ब्राह्मण कहने लगा। हे प्रिये! हे साधुशीले! किसवास्ते डरती हो। वह कहने लगी। नाथ! मेरे सरीखे पतिव्रता स्त्रियोंको ऐसा क्रूर शब्द सुनना नहीं सहा जाता। हे साधुशीले! तैसेही होगा, ऐसे ब्राह्मण कहने लगा। फिर राजा तिसका संपूर्ण चरित देखकर चिंतन करता भया। अहो यह जवान स्त्री निश्चय खोटी है। जिससे डरनेका मिसकरके अपने पतिव्रताधर्मको आप कीर्तन करती है। यह निश्चय डरी हुईकी तरह रात्रिको अत्यंत दारुण कर्म करती है। ऐसे निश्चय करके राजा रात्रिको वहीं ल्हुका हुआ ठहरता भया। जब अर्धरात्रमें भर्ता सो गया तब वह वेश्याके हाथ मांसकी पिटारी लेकर नर्मदाके तीरपर जाती भई। राजाभी अपने आपको गुप्त करके पीछे जाता भया। फिर वह नर्मदाको प्राप्त होकर तहां आये हुए ग्राहोंको मांस देकर नर्मदाको तीरकर परले शूलोंपर आरोपित जो अपना प्रिय तिसके साथ रमण करती भई। राजा तिस

चरित्रको देखकर घर आकर प्रातःकाल सभामें कालिदास-को देखकर कहने लगा । हे सुकवे ! सुनो ॥

दिवा काकरुताद्भीता,

ततः कालिदास आह–रात्रौ तरति नर्मदाम् ॥
ततस्तुष्टो राजा पुनः प्राह–तत्र संति जले ग्राहाः,
ततः कविराह–मर्मज्ञा सैव सुंदरी ॥ २९४ ॥

दिनमें काकोंके शब्दकरके डरी । फिर कालिदास कहने लगा । रातको नर्मदाको तीरती भई । प्रसन्न हुआ राजा फिर कहने लगा । तहां जलमें ग्राह थे । फिर कवि कहने लगा । वह सुंदरी मर्मको जाननेवाली है ॥ २९४ ॥

ततो राजा कालिदासस्य पादयोः पतति । एकदा धारानगरे विचरन् वेश्यावीथ्यां राजा कंदुकलीलातत्परां तद्भ्रमणवेगेन पादयोः पतितावतंसां कांचन सुंदरीं दृष्ट्वा सभायामाह । कंदुकं वर्णयंतु कवय इति । तदा भवभूतिराह ॥

फिर राजा कालिदासके चरणोंमें गिर गया । एक समय धारानगरमें विचरता हुआ राजा वेश्याकी गलीमें जाकर तहां खिन्नूके खेलमें तत्पर और तिसके भ्रमणके वेगसे पैरोंमें पडी है माला जिसके ऐसी किसी सुंदरीको देखकर सभामें कहने लगा । हे कवियो ! खिन्नूका वर्णन करो । फिर भवभूति कहने लगा ॥

विदितं ननु कंदुक ते हृदयं ।
प्रमदाधरसंगमलुब्ध इव ॥

वनिताकरतामरसाभिहतः ।
पतितः पतितः पुनरुत्पतसि ॥ २९५ ॥

हे खिन्नू ! तेरा हृदय मैंने जान लिया तू स्त्रीके होंठके अमृतके लोभीकी तरह स्त्रीके हाथकमलसे ताडा हुआ पड पडकर फिर उठता है ॥ २९७ ॥

ततो वररुचिः प्राह ॥

फिर वररुचि कहने लगा ॥

एकोपि त्रय इव भाति कंदुकोयं ।
कांतायाः करतलरागरक्तरक्तः ॥
भूमौ तच्चरणनखांशुगौरगौरः ।
स्वःस्थस्सन्नयनमरीचिनीलनीलः ॥ २९६ ॥

एकभी यह खिन्नू तीनोंकी तरह (समान) हो रहा है कि स्त्रीके हाथकी लालीसे लाल लाल भान होता है और पृथ्वीपर तिसके नखोंकी किरणोंसे गौर गौर भान होता है और स्वःस्थ हुआ (आकाशमें गया हुआ) नेत्रोंकी छायासे नीला नीला भान होता है ॥ २९६ ॥

ततः कालिदास आह ॥

फिर कालिदास कहने लगा ॥

पयोधराकारधरो हि कंदुकः ।
करेण रोषादभिहन्यते मुहुः ॥
इतीव नेत्राकृतिभीतमुत्पलं ।
स्त्रियाः प्रसादाय पपात पादयोः ॥ २९७ ॥

यह खिन्नू स्त्रीके कुचोंकेसा आकारवाला है इसवास्ते क्रोधसे वारंवार ताडियो है फिर नेत्राकारसे डरा हुआ कमलभी स्त्रीकी प्रसन्नताके वास्ते उसके चरणोंमें पडता भया ॥ २१७ ॥

तदा राजा तुष्टस्त्रयाणामक्षरलक्षं ददौ । विशेषेण च कालिदासमदृष्टावतंसकुसुमपतनबोद्धारं संमानितवान् । ततः कदाचिच्चित्रकर्मावलोकनतत्परो राजा चित्रलिखितं महाशेषं दृष्ट्वा सम्यग्लिखितमित्यवदत् । तदा कश्चिच्छिवशर्मा नाम कविः शेषमिषेण राजानं स्तौति ॥

फिर प्रसन्न हुआ राजा तीनों कवियोंको अक्षर २ प्रति लाख २ रुपैये देता भया । नहीं देखे हुए शिरके मुकुटके पुष्पोंके पडनेको जाननेवाले कालिदासको विशेषकरके मानता भया । फिर किसी समयमें चित्रकर्म देखनेमें तत्पर राजा चित्र लिखे महाशेषको देखकर अच्छा लिखा है ऐसे कहता भया । फिर कोई शिवशर्मा नाम कवि शेषका मिस करके राजाकी स्तुति करता भया ॥

अनेके फणिनस्संति भेकभक्षणतत्पराः ॥
एक एव हि शेषोयं धरणीधरणक्षमः ॥ २९८ ॥

मेंडक भक्षणमें तत्पर तो अनेक सर्प हैं परंतु पृथ्वीधारण करनमें समर्थ एक शेषही है ॥ २९८ ॥

तदानीं राजा तदभिप्रायं ज्ञात्वा तस्मै लक्षं ददौ । कदाचिद्धेमंतकाले समागते ज्वलंतीं हसंतीं संसेवयन्

राजा कालिदासं प्राह । सुकवे हसंतीं वर्णयेति । ततः सुकविराह ॥

तब राजा तिसका अभिप्राय जानकर तिसको लाख रुपैये देता भया । किसी समय हेमंत कालमें बलती हुई सिगडीको सेवता हुआ राजा कालिदासको कहने लगा । हे सुकवे ! सिगडीका वर्णन करो । फिर सुकवि कहने लगा ॥

कविमतिरिव बहुलोहा सुघटितचक्रा प्रभात-
वेलेव ॥ हरमूर्तिरिव हसंती भाति विधू-
मानलोपेता ॥ २९९ ॥

कविकी बुद्धिकी तरह बहुलोहा याने बहुत लोहवाली (कविबुद्धिभी बहुलोहा याने बहुत तर्कवाली है), प्रभात वेलाकी तरह सुघटितचक्रा याने सुंदर घटित चक्रवाली (प्रभात वेलाभी सुघटितचक्रा याने संगत हैं चकवा चकवी जिसमें ऐसी है), धूमरहित अग्निसे युक्त, हसंती याने सिगडी (शिवकी मूर्तिभी हसंती याने हास्ययुक्त है) शोभती है ॥२९९॥

राजा अक्षरलक्षं ददौ । एकदा भोजराजोंतर्गृहे भोगार्हास्तुल्यगुणाश्चतस्रो निजांगना अपश्यत् । तासु च कुंतलेश्वरपुत्र्यां पद्मावत्यामृतुस्नानं, अंगराजस्य पुत्र्यां चंद्रमुख्यां क्रमप्राप्तिं, कमलानाम्न्यां च द्यूतपणजयलब्धप्राप्तिं, अग्रमहिष्यां च लीलादेव्यां दूतीप्रेषणमुखेनाह्वानं च एवं चतुरो गुणान् दृष्ट्वा तेषु गुणेषु न्यूनाधिकभावं राजाप्यचिंतयत् । तत्र सर्वत्र दाक्षिण्यनिधी राजराजः श्रीभोजस्तुल्यभावेन द्वित्रि-

घटिकापर्यंतं विचिंत्य विशेषानवधारणे निद्रां गतः । प्रातश्चोत्थाय कृताह्निकः सभामगात् । तत्र च सिंहासनमलंकुर्वाणः श्रीभोजः सकलविद्वत्कविमंडलमंडनकालिदासमालोक्य सुकवे इमां त्र्यक्षरोनतुरीयचरणां समस्यां शृणु इत्युक्त्वा पठति ॥

राजा अक्षर २ प्रति लाख २ रुपैये देता भया। एक समय भोजराजा रनवासमें भोगके योग्य तुल्य गुणोंवाली ऐसी चार अपनी अंगनाओंको देखता भया। तिन्होंके मध्यमें कुंतलेश्वरकी पुत्री पद्मावतीमें ऋतुस्नान और अंगराजकी पुत्री चंद्रमुखीमें क्रमप्राप्ति अर्थात् उसका ओसरा और कमलानाम्नी राणीमें जूवाका जीतना, पट्टराणी लीलादेवीमें दूती भेजना करके बुलाना, तिन्होंमें चार गुण देखकर तिन गुणोंमें न्यून अधिकभाव राजा चिंतन करता भया। तहां चातुर्यका खजाना राजराज श्रीभोज सब रानियोंमें तुल्यभाव करके दो तीन घडीपर्यंत विचार कर विशेष नहीं निश्चय करके निद्राको प्राप्त हो गया। प्रातःकाल उठकर नित्य नियम करके सभामें प्राप्त होता भया तहां सिंहासनपर बैठा राजा भोज संपूर्ण विद्वान् कविमंडलका मंडन रूप कालिदासको देखकर हे सुकवे ! तीन अक्षर कम चौथे चरणकी समस्याको सुन, ऐसे कहकर पढने लगा ॥

अप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थिता नाडिकाः ॥

अयुक्तिसे मूढ है मन जिन्होंमें ऐसी दो तीन नाडिका (घडी) विचारमें स्थित रही ॥

इति पठित्वा राजा कालिदासमाह। सुकवे एतत्समस्यापूरणं कुर्विति। ततः कालिदासस्तस्य हृदयं करतलामलकवत् प्रपश्यन् त्र्यक्षराधिकचरणत्रयविशिष्टां तां समस्यां पठति। देव॥

ऐसे पढकर राजा कालिदासको कहनें लगा। हे सुकवे! इस समस्याको पूरण कर। फिर कालिदास राजाके हृदयको हाथमें आंवलाकी तरह देखकर तीन अक्षर अधिक तीन चरणयुक्त तिस समस्याको पढने लगा। हे देव॥

स्नाता तिष्ठति कुंतलेश्वरसुता वारोऽगराजस्वसु- ।
र्द्यूते रात्रिरियं कृता कमलया देवी प्रसाद्याधुना॥
इत्यंतःपुरसुंदरीजनगुणे न्यूनाधिकं ध्यायता।
देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थिता नाडिकाः॥

कुंतलेश्वरकी पुत्री ऋतुसमयमें न्हाई हुई है और अंगराजकी पुत्री चंद्रमुखीके क्रमप्राप्ति ओसरावाली है और कमलादेवीने जूवामें जीतके यह रात्री अपनी कर ली है और लीलादेवीने दूतीद्वारा बुलवाया इससे वहभी अब प्रसन्न करनी ऐसे रनिवासमें रानियोंके गुणोंका न्यून अधिक भाव विचारते हुए देव (भोजराजा) ने अयुक्तिसे मूढ है चित्त जिन्होंमें ऐसी दो तीन घडी विचारमें स्थित रहीं (वतीत भई)॥ ३००॥

तदा राजा स्वहृदयमेव ज्ञातवतः कालिदासस्य पादयोः पतति स्म। कविमंडलं च चमत्कृतमजायत। एकदा राजा धारानगरे विचरन् क्वचित् पूर्णकुंभं धृत्वा

समायांतीं पूर्णचंद्राननां कांचिदृष्ट्वा तत्कुंभजले शब्दं च कंचन श्रुत्वा नूनमेव तस्याः कंठग्रहेऽयं घटो रतिकूजितमिव कूजतीति मन्यमानः सभायां कालिदासं प्राह।

फिर राजा अपने अभिप्रायको जानते हुए कालिदासके चरणोंमें पडता भया और कविमंडल चमत्कृत होता भया । एक समय राजा धारानगरमें विचरता हुआ किसी जगह भरा हुआ घडा लिये आती हुई पूर्णचंद्रकेसा मुखवाली किसी स्त्रीको देखकर और तिसके घडेके जलमें कोई शब्द सुनकर विचारा निश्चय यह स्त्री घटका कंठ पकड रही है, यह घट रतिकूजितकी तरह शब्द करता है ऐसे मानता हुआ राजा सभामें कालिदासके प्रति कहने लगा ॥

कूजितं रतिकूजितमिति ॥

कूजित जो है रतिकूजित होता है ॥

कविराह–विदग्धे सुमुखे रक्ते नितंबोपरि संस्थिते ॥
कामिन्याश्लिष्टसुगले कूजितं रतिकूजितम् ॥

कवि कहने लगा। सुंदर पका हुआ, सुंदर मुखवाला, रक्त वर्णवाला, कटिके ऊपर स्थित, स्त्रीने पकडा सुंदर गला जिसका ऐसे घडेका शब्द रतिकूजित अर्थात् मैथुनसमयके शब्दकी तरह होता है ॥ ३०१ ॥

तदा तुष्टो राजा प्रत्यक्षरलक्षं ददौ ननाम च । एकदा नर्मदायां महाह्रदे जालकैरेकः शिलाखंड ईषद्भ्रंशिताक्षरः कश्चिद्दृष्टः तैश्च परिचिंतितम् । इदमत्र लिखितमिव किंचिद्भाति नूनमिदं राजनिकटं नेयमि-

ति बुद्ध्या भोजसदसि समानीतम् । तदाकर्ण्य भोजः प्राह । पूर्वं भगवता हनूमता श्रीमद्रामायणं कृतं तदत्र ह्रदे नूतनैः प्रक्षेपितमिति श्रुतमस्ति । ततः किमिदं लिखितमित्यवश्यं विचार्यमिति लिपिज्ञानं कार्यं जतुपरीक्षयाक्षराणि परिज्ञाय पठति । तत्र चरणद्वयमानुपूर्व्याल्लब्धम् ॥

फिर प्रसन्न हुआ राजा अक्षर २ प्रति लाख २ रुपैये देता भया और नमस्कार करता भया । एक समय नर्मदाके महाकुंडमें जालकों (जाली खोदनेवाले कारीगरों) ने कुछ बिगडे हैं अक्षर जिसके ऐसा शिलाका कोई टुकडा देखा तिन्होंने चिंतन किया कि यह यहां कुछ लिखितकी तरह भान होता है निश्चय यह राजाके पास ले जाना योग्य है, ऐसे विचार कर वह भोजराजाकी सभामें प्राप्त कर दिया । सो सुनकर भोज कहने लगा । पहले भगवान् हनूमान्जीने श्रीमद्रामायण किया है, वह यहां कुंडविषै नवीनोंने गेर दिया ऐसे सुना है । फिर यह क्या लिखा है ऐसे अवश्य विचारना, ऐसे लिखितका ज्ञान करना कि लाखकी परीक्षा करके अक्षरोंको जानकर पढने लगा । तहां दो चरण आनुपूर्वीसे लब्ध हुए ॥

अयि खलु विषमः पुराकृतानां ।
भवति हि जंतुषु कर्मणां विपाकः ॥

अयि मित्र ! पहले किये कर्मोंका फल जीवोंके निश्चय विषम है ॥

ततो भोजः प्राह । एतस्य पूर्वार्धं कथ्यतामिति । तदा भवभूतिराह ॥

फिर भोज कहने लगा । इसका पूर्वार्द्ध कहो । तब भवभूति कहने लगा ॥

क्व नु कुलमकलंकमायताक्ष्याः ।
क्व नु रजनीचरसंगमापवादः ॥ ३०२ ॥

बडे नेत्रोंवाली सुंदर स्त्रीका कलंकरहित कुल कहां; फिर राक्षसजनोंके संगका अपवाद कहां ॥ ३०२ ॥

ततो भोजस्तत्र ध्वनिदोषं मन्वानस्तदेव पूर्वार्धमन्यथा पठति स्म ॥

फिर तहां ध्वनिदोष मानता हुआ भोज राजा तिसी पूर्वार्धको और तरह पढता भया ॥

क्व जनकतनया क्व रामजाया ।
क्व च दशकंधरमंदिरे निवासः ॥ (३०२) ॥

कहां जनकपुत्री और कहां रघुनाथजीकी स्त्री और कहां रावणके मंदिरमें निवास ॥ (३०२) ॥

अयि खलु०–०विपाकः । ततो भोजः कालिदासं प्राह । सुकवे त्वमपि कविहृदयं पठेति । स आह ॥

आगे वही पूर्व कहा उत्तरार्द्ध । अयि० । फिर भोज कालिदासको कहने लगा । हे सुकवे ! तुमभी कविके हृदयको पढो । कालिदास कहने लगा ॥

शिवशिरसि शिरांसि यानि रेजुः ।
शिव शिव तानि लुठंति गृध्रपादैः ॥ ३०३ ॥

बडा खेद है ! बडा खेद है !! कि जौनसे रावणके शिर महादेवजीके मस्तकपर शोभाको प्राप्त होते भये सो अब गिद्धोंके पावोंकरके गुरडते फिरते हैं ॥ ३०३ ॥

अयि खलु०–०विपाकः । ततस्तस्य शिलाखंडस्य पूर्वपुटे जतुशोधनेन कालिदासः पठति तमेव दृष्ट्वा राजा भृशं तुतोष । कदाचिद्भोजेन विलासार्थं नूतनगृहांतरं निर्मितम् । तत्र गृहांतरे गृहप्रवेशात् पूर्वमेकः कश्चिद्ब्रह्मराक्षसः प्रविष्टः । स च रात्रौ तत्र ये वसंति तान् भक्षयति । ततो मांत्रिकान् समाहूय तदुच्चाटनाय राजा यतते स्म । स च आगच्छन्नेव मांत्रिकानेव भक्षयति । किं च स्वयं कवित्वादिकं पूर्वाभ्यस्तमेव पठन् तिष्ठति । एवं स्थिते तत्रैव रक्षसि राजा कथमस्य निवृत्तिरिति व्यचिंतयत् । तदा कालिदासः प्राह । देव नूनमयं राक्षसः सकलशास्त्रप्रवीणः सुकविश्च भाति । अतस्तमेव तोषयित्वा कार्यं साधयामि । मांत्रिकास्तिष्ठंतु मम मंत्रं पश्येत्युक्त्वा स्वयं तत्र रात्रौ गत्वा शेते स्म । ततः प्रथमयामे ब्रह्मराक्षसः समागतः । स च पूर्वं पुरुषं दृष्ट्वा प्रतियाममेकैकां समस्यां पाणिनिसूत्रमेव पठति । येनोत्तरं तद्धृदयंगतं नोक्तमयं न ब्राह्मणोऽतो हंतव्य इति निश्चित्य हंति । तदानीमपि पूर्ववदयमपूर्वः पुरुषः अतो मया समस्या पठनीया न चेद्वक्ति सदृशमुत्तरं तस्याः तदा हंतव्य इति बुद्ध्या पठति ॥

फिर उत्तरार्द्ध वही कहना । फिर तिस शिलाके खंडके पूर्वपुटमें लाखसे शोधन करके कालिदास पढने लगा । तब तहां कालिदासकाही किया पूर्वार्द्ध देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ । किसी समय भोजने विलासके वास्ते नवीन कोई घर रचा । तहां घरके भीतर गृहप्रवेशसे पहले कोई ब्रह्मराक्षस प्रविष्ट हो गया । रातको तहां कोई वास करे उसको वह भक्षण कर लेवे । फिर मंत्र जाननेवालोंको बुलाकर उसके उच्चाटनके वास्ते राजा यत्न करता भया । वह ब्रह्मराक्षस आते हुएही मांत्रिकोंको भक्षण करता भया । और पहले अभ्यास किया कवित्व आदि पढता हुआ ठहरता भया । ऐसे स्थित होत संते वहीं राजा ऐसे चिंतन करता भया कि इसकी निवृत्ति कैसे होवे । फिर कालिदास कहने लगा । हे देव ! निश्चय यह राक्षस संपूर्ण शास्त्रप्रवीण सुकवि भान होता है । इसवास्ते इसीको प्रसन्न करके कार्य सिद्ध करूंगा । मांत्रिक ठहरे । मेरे मंत्रको देखो ऐसे कहकर आप तहां जाकर रात्रिको सोता भया । फिर पहिले २ प्रहरमें ब्रह्मराक्षस आया वह पहले पुरुषको दिखकर प्रहर २ प्रति एक २ समस्या पाणिनिसूत्रवाली पढता भया । जिसने तिसके हृदयका उत्तर नहीं कहा तहां यह विचार कर कि यह ब्राह्मण नहीं इसवास्ते मारना ऐसे निश्चय करके मार देता भया । तिस समयमेंभी पूर्वकी तरह यह अपूर्व पुरुष है इसवास्ते मैंने समस्या पढनी, जो तिसका यथार्थ उत्तर नहीं करे तो मार देना, यह विचार कर समस्या पढी ॥

सर्वस्य द्वे-इति ॥
संपूर्णके दो वस्तु हैं ॥
तदा कालिदासः प्राह ॥
फिर कालिदासने कहा ॥
सुमतिकुमती संपदापत्तिहेतू ॥
सुमति,कुमति ये दो वस्तु संपत् और विपत्का कारण है ॥
ततस्स गतः । पुनरपि द्वितीययामे समागत्य पठति ॥
फिर वह सुन चला गया । फिर दूसरे प्रहरमें आकर पढने लगा ॥
वृद्धो यूना-इति ॥
वृद्धपुरुष, जवानके साथ ॥
तदा कविराह ॥
फिर कवि कहने लगा ॥
सह परिचयात्त्यज्यते कामिनीभिः, इति ॥
परिचय होनेसे स्त्रियोंकरके त्याग दिया जाता है ॥
तृतीययामे स राक्षसः पुनस्समागत्य पठति ॥
तीसरे प्रहरमें आकर वह राक्षस फिर पढने लगा ॥
एको गोत्रे-इति ॥
गोत्रमें मुख्य ॥
ततः कविराह ॥
फिर कवि कहने लगा ॥
स भवति पुमान् यः कुटुंबं बिभर्ति ॥

सो पुरुष है जो कुटुम्बको धारण करे ॥

ततश्चतुर्थयामे आगत्य स राक्षसः पठति ॥

फिर चौथे प्रहरमें आकर वह राक्षस पढने लगा ॥

स्त्री पुंवच्च–इति ॥

स्त्री पुरुषकी तरह ॥

ततः कविराह ॥

फिर कवि कहने लगा ॥

प्रभवति यदा तद्धि गेहं विनष्टम्, इति ॥ ३०४ ॥

जब प्रभु हो जातीहै तब वह घर नष्ट हो जाताहै॥ ३०४॥

ततस्स राक्षसो यामचतुष्टयेपि स्वाभिप्रायमेव ज्ञात्वा तुष्टः प्रभातसमये समागत्य तमाश्लिष्य प्राह। सुमते, तुष्टोस्मि किं तवाभीष्टमिति। कालिदासः प्राह। भगवन्नेतद्गृहं विहायान्यत्र गंतव्यमिति। सोपि तथेति गतः। अनंतरं तुष्टो भोजः कविं बहु मानितवान्। एकदा सिंहासनमलंकुर्वाणे श्रीभोजे सकलभूपालशिरोमणौ द्वारपाल आगत्य प्राह। देव दक्षिणदेशात्कोपि मल्लिनाथनामा कविः कौपीनावशेषो द्वारि वर्तते। राजा प्रवेशयेत्याह। ततः कविरागत्य स्वस्तीत्युक्त्वा तदाज्ञया चोपविष्टः पठति ॥

फिर वह राक्षस चारों प्रहरोंमें अपना अभिप्राय जानकर प्रसन्न हुआ प्रातःकाल आकर कालिदाससे मिलकर कहने लगा। हे सुमते! मैं प्रसन्न हो गया क्या तुम्हारा वांछित

है ? कालिदास कहने लगा। हे भगवन् ! इस घरको छोडकर और जगह चले जाओ। वह मानकर चला गया। पीछे प्रसन्न हुआ भोज कवि कालिदासको बहुत मानता भया। एक समय संपूर्ण राजाओंमें शिरोमणि श्रीभोजराजा सिंहासनपर बैठा हुआ था, तब द्वारपाल आकर कहने लगा। हे देव ! दक्षिणदेशसे कोई मल्लिनाथ कवि कौपीनावशेष द्वारपर खडा है। राजा कहने लगा भेजो। फिर कवि आकर और ' स्वस्ति ' ऐसे आशीर्वाद देकर तिसकी आज्ञामें बैठकर पढने लगा ॥

नागो भाति मदेन खं जलधरैः पूर्णेंदुना शर्वरी ।
शीलेन प्रमदा जवेन तुरगो नित्योत्सवैर्मंदिरम् ॥
वार्णी व्याकरणेन हंसमिथुनैर्नद्यः सभा पंडितैः ।
सत्पुत्रेण कुलं त्वया वसुमती लोकत्रयं भानुना॥३०५

हस्ती मदकरके शोभाको प्राप्त होता है, आकाश मेघोंकरके, रात्रि पूर्णचंद्रमाकरके, स्त्री शीलकरके, घोडा वेगकरके, मंदिर नित्य उत्सवोंकरके, वाणी व्याकरणकरके, नदी हंसोंके जोडाकरके, सभा पंडितोंकरके, कुल सत्पुत्रकरके, हे राजन् ! पृथ्वी तुम्हारेकरके, तीनों लोक सूर्यनारायणकरके शोभाको प्राप्त होते हैं ॥ ३०५ ॥

ततो राजा प्राह । विद्वन् तवोद्देश्यं किमिति । ततः कविराह ॥

फिर राजा कहने लगा । हे विद्वन् ! तुम्हारा उद्देश्य क्या है ? फिर कवि कहने लगा ॥

अंबा कुप्यति न मया न स्नुषया सापि नांबया न मया ।
अहमपि न तया न तया वद राजन् कस्य दोषोऽयम्॥

मेरी माता क्रोध करती है कुछ मेरेसे नहीं, और कुछ पुत्रवधूसेभी नहीं, वह पुत्रवधूभी क्रोध करती है मेरेसे नहीं और मातासेभी नहीं, और मैंभी क्रोध करता हूं तिस मातासे नहीं, और तिस पुत्रवधूसेभी नहीं, सो हे राजन् ! कहो किसका दोष है ? ॥ ३०६ ॥

इति । राजा च दारिद्र्यदोषं ज्ञात्वा कविं पूर्णमनोरथं चक्रे । एकदा द्वारपाल आगत्य राजानं प्राह । देव कविशेखरो नाम महाकविर्द्वारि वर्तते । राजा प्रवेशयेत्याह । ततः कविरागत्य स्वस्तीत्युक्त्वा पठति ॥

राजा दारिद्र्यदोष जानकर कविको पूर्णमनोरथ करता भया । एक समय द्वारपाल आकर राजाको कहने लगा । हे देव ! कविशेखर नाम महाकवि द्वारपर स्थित है । राजा कहने लगा भेजो । फिर कवि आकर ' स्वस्ति ' ऐसे आशीर्वाद देकर पढने लगा ॥

राजन् दौवारिकादेव प्राप्तवानस्मि वारणम् ॥
मदवारणमिच्छामि त्वत्तोहं जगतीपते ॥ ३०७ ॥

हे राजन् ! वारण (हाथी या वर्जने) को तो मैं द्वारपालसेही प्राप्त हो गया हूं । हे जगतीपते ! अब मदवारण (मत्त हस्ती या मेरा अवर्जन) की इच्छा तुमसे मैं करता हूं॥ ३०७॥

तदा प्राङ्मुखस्तिष्ठन् राजातिसंतुष्टः तं प्राग्देशं

सर्वं कवये दत्तं मत्वा दक्षिणाभिमुखोऽभूत् । ततः कविश्चिंतयति किमिदं राजा मुखं परावृत्य मां न पश्यतीति । ततो दक्षिणदेशे समागत्याभिमुखः कविः पठति ॥

फिर प्राङ्मुख राजा ठहरता हुआ अतिप्रसन्न हुआ तिसको प्राग्देश (पूर्वदेश) संपूर्ण कविको दिया हुआ मानकर दक्षिणके सन्मुख होता भया । फिर कवि चिंतन करने लगा यह क्या बात है राजा मुख फेरकर मेरेको नहीं देखता है । फिर दक्षिणदेशमें आकर सन्मुख हुआ कवि पढने लगा ॥

अपूर्वेयं धनुर्विद्या भवता शिक्षिता कथम् ॥
मार्गणौघस्समायाति गुणो याति दिगंतरम् ॥ ३०८ ॥

हे राजन् ! यह अपूर्व धनुर्विद्या तुमने कहांसे सीखी। जो बाणोंका समूह तो आवे और ज्या आकाशको जावे ३०८

ततो राजा दक्षिणदेशमपि मनसा कवये दत्त्वा स्वयं प्रत्यङ्मुखोऽभूत् । कविस्तत्रागत्य प्राह ॥

फिर राजा दक्षिणदेशको मनसे कविको दिया हुआ मानकर आप पश्चिममुख होकर ठहरता भया । कवि तहां आकर कहने लगा ॥

सर्वज्ञ इति लोकोयं भवंतं भाषते मृषा ॥
पदमेकं न जानीषे वक्तुं नास्तीति याचके ॥ ३०९

हे राजन् ! यह लोग जो तुम्हारेको सर्वज्ञ कहते हैं सो झूंठ बोलते हैं क्योंकि जिससे याचकके आगे ' नहीं ' यह पद तो कहना नहीं जानते हो ॥ ३०९ ॥

ततो राजा तमपि देशं कवेर्दत्तं मत्वा उदङ्मुखोऽभूत् । कविस्तत्रापि आगत्य प्राह ॥

फिर राजा तिस देशकोभी कविको दिया हुआ मानकर उत्तरकी तरफ मुख करके स्थित होता भया। फिर कवि तहां आकर कहने लगा ॥

सर्वदा सर्वदोसीति मिथ्या त्वं कथ्यसे बुधैः ॥
नारयो लेभिरे पृष्ठं न वक्षः परयोषितः ॥ ३१० ॥

हे राजन्! जो तुमको मनुष्य कहते हैं कि संपूर्ण कालमें तुम संपूर्ण वस्तुओंके देनेवाले हो यह झूठी बात है क्योंकि शत्रु तुम्हारी पीठको नहीं प्राप्त होता और परस्त्री तुम्हारी छातीको नहीं प्राप्त होती है ॥ ३१० ॥

ततो राजा स्वां भूमिं कविदत्तां मत्वा उत्तिष्ठति स्म । कविश्च तदभिप्रायमज्ञात्वा पुनराह ॥

फिर राजा अपनी भूमिको कविको दी हुई मानकर उठता भया। कवि तिस राजाके अभिप्रायको नहीं जानकर फिर कहने लगा ॥

राजन्कनकधाराभिस्त्वयि सर्वत्र वर्षति ॥
अभाग्यच्छत्रसंछन्ने मयि नायांति बिंदवः ॥३११

हे राजन्! सुवर्णकी धाराओंकरके तुम्हारे सारे वर्षा करते हुए अभाग्यरूप छत्रसे आच्छादित जो मैं हूं मेरेविषे बिंदु नहीं आती है ॥ ३११ ॥

तदा राजा चांतःपुरं गत्वा लीलादेवीं प्राह । देवि सर्वं राज्यं कवये दत्तं ततस्तपोवनं मया सहाग-

च्छेति । अस्मिन्नवसरे विद्वान्द्वारि निर्गतः बुद्धिसागरेण वृद्धामात्येन पृष्टः । विद्वन् राज्ञा किं दत्तमिति । स आह । न किमपीति । तदामात्यः प्राह तत्रोक्तं श्लोकं पठ । ततः कविः श्लोकचतुष्टयं पठति । अमात्यस्ततः प्राह । सुकवे तव कोटिद्रव्यं दीयते परं राज्ञा यदत्र तव दत्तं भवति तत्पुनर्विक्रीयतामिति । कविस्तथा करोति । ततः कोटिद्रव्यं दत्त्वा कविं प्रेषयित्वा अमात्यो राजनिकटमागत्य तिष्ठति स्म । तदा राजा च तमाह । बुद्धिसागर राज्यमिदं सर्वं दत्तं कवये पत्नीभिः सह तपोवनं गच्छामि । तत्र तपोवने तवापेक्षा यदि मया सहागच्छेति । ततोऽमात्यः प्राह । देव तेन कविना कोटिद्रव्यमूल्येन राज्यमिदं विक्रीतम् । कोटिद्रव्यं च विदुषे दत्तमतो राज्यं भवदीयमेव भुंक्ष्वेति । तदा राजा च बुद्धिसागरं विशेषेण सम्मानितवान् । अन्यदा राजा मृगयारसेनाटवीमटन् ललाटंतपे तपने घूनदेहः पिपासापर्याकुलस्तुरगमारुह्य उदकार्थी निकटतटभुवमटन् तदलब्ध्वा परिश्रांतः कस्यचिन्महातरोरधस्तादुपविष्टः । तत्र काचिद्गोपकन्या सुकुमारमनोज्ञसर्वांगा यदृच्छया धारानगरं प्रति तक्रं विक्रेतुकामा तक्रभाण्डं चोद्वहंती समागच्छति । तां आगच्छन्तीं दृष्ट्वा राजा पिपासावशाद्वेलद्भांडस्थं पेयं चेत् पिबामीति बुद्ध्यापृच्छत्, तरुणि किमावहसीति । सा च त-

न्मुखश्रिया भोजं मत्वा तत्पिपासां च ज्ञात्वा तन्मुखा-
वलोकनवशाच्छंदोरूपेणाह ॥

फिर राजा रनिवासमें जाकर लीलादेवीको कहने लगा। हे देवि ! संपूर्ण राज्य कविको दे दिया, इसवास्ते तू तपोवनमें मेरे साथ आ। इसी अवसरमें वह विद्वान् द्वारपर आ गया। फिर बुद्धिसागर नाम बडे दीवानने पूंछा। हे विद्वन् ! राजाने क्या दिया। वह कहने लगा। कुछभी नहीं दिया। फिर मंत्री कहने लगा तहां कहा हुआ श्लोक पढ। फिर कविने चारों श्लोक पढे। फिर मंत्री कहने लगा कि, हे सुकवे ! तेरेको कोटि द्रव्य दिया है परंतु राजाने जो तेरेको यहां दिया है बेचा चाहो तो फिर उसको बेच दो। कवि तैसेही करता भया। फिर कोटि द्रव्य देकर कविको भेजकर मंत्री राजाके पास आकर स्थित होता भया। तब राजा तिस बुद्धिसागरको कहने लगा कि हे बुद्धिसागर ! यह संपूर्ण राज्य कविको दे दिया मैं रानियोंसहित तपोवनमें जाता हूं। तहां तपोवनमें जो तेरी अपेक्षा है तो मेरे साथ आवो। फिर मंत्री कहने लगा। हे देव ! तिस कविने कोटिद्रव्य मूल्य लेकर यह राज्य बेच दिया। कोटि द्रव्य विद्वान्को दे दिया इसवास्ते राज्य तुम्हाराही है भोगो। तब राजा बुद्धिसागरको विशेषकरके मानता भया। एक समय राजा शिकारका शौक (व्यसन) करके वनमें फिरता हुआ जब सूर्य मस्तकपर आ गया तब प्याससे व्याकुल हुआ घोडेपर चढकर जलके वास्ते पृथ्वीपर फिरता भया,

जल नहीं मिलनेसे थक गया, किसी बडे वृक्षके नीचे बैठ गया। तहां कोमल सुंदर संपूर्ण अंगोंवाली कोई गोपकन्या स्वभावसे धारानगरमें छाछ बेचनेके वास्ते छाछका घडा लिये आई तिसको आती हुई देख राजाने प्यासके वशसे विचार किया कि जो इस पात्रमें पीनेके योग्य वस्तु हो तो पीऊं इस बुद्धिसे पूंछने लगा कि, हे तरुणि! इसमें क्या है। वह गोपकन्या मुखकी शोभाकरके भोजको मानकर और राजाके प्यासभी जानकर तिसका मुख देखनेके वशसे छंदोरूप करके कहने लगी॥

हिमकुंदशशिप्रभशंखनिभं।
परिपक्ककपित्थसुगंधरसम्॥
युवतीकरपल्लवनिर्मथितं।
पिब हे नृपराज रुजापहरम्॥ ३१२॥

हे नृपराज! बरफ, कुंद, चंद्रमा इन्होंकेसी सफेद कांतिवाला और शंखकेसी कांतिवाला और पके हुए कैथकेसा सुगंधित रसवाला और जवान स्त्रीके हाथ कमलसे मंथा हुआ रोगको शांत करनेवाला ऐसा पदार्थ पीवो॥ ३१२॥

इति। राजा तच्च तक्रं पीत्वा तुष्टः तां प्राह। सुभ्रूः किं तवाभीष्टमिति। सा च किंचिदाविष्कृतयौवना मदपरवशा मोहाकुलनयना प्राह। देव मां कन्यामेवावेहि। सा पुनराह॥

ऐसे राजा तिस छाछको पीकर प्रसन्न हुआ तिसको कहने लगा। हे सुंदर भ्रुकुटियोंवाली ! तेरा क्या मनोरथ है। फिर कुछ प्रगट हुआ है यौवन जिसका और मोहसे व्याकुल हैं नेत्र जिसके ऐसी मदके वशसे वह कहने लगी । हे देव ! मेरेको कन्याही जानो। फिर वह कहने लगी ॥

इंदुं कैरविणीव कोकपटलीवांभोजिनीवल्लभं ।
मेघं चातकमंडलीव मधुपश्रेणीव पुष्पव्रजम् ॥
माकंदं पिकसुंदरीव रमणीवात्मेश्वरं प्रोषितं ।
चेतोवृत्तिरियं सदा नृपवर त्वां द्रष्टुमुत्कंठते ॥ ३१३ ॥

हे नृपवर ! जैसे कुमोदिनी चंद्रमाको, चकवोंका समूह सूर्यको, पपीहोंकी मंडली मेघको, भौंरोंकी पांक्ति पुष्पसमूहको, कोयल पुष्परसको, स्त्री बहुत दिनके गये स्वामीको ये संपूर्ण जैसे इन्होंको देखनेकी इच्छा करते हैं ऐसे मेरे चित्तकी वृत्ति सदा तुम्हारे देखनेकी इच्छा करती है ॥ ३१३ ॥

राजा चमत्कृतः प्राह । सुकुमारि त्वां लीलादेव्या अनुमत्या स्वीकुर्मः । इति धारानगरं नीत्वा तां तथैव स्वीकृतवान् । कदाचिद्राजाभिषके मदनशरपीडिताया मदिराक्ष्याः करतलगलितो हेमकलशः सोपानपंक्तिषु रटन्नेव पपात । ततो राजा सभायामागत्य कालिदासं प्राह । सुकवे एनां समस्यां पूरय । 'टटंटटंटटटटंटटंटम्' । तदा कालिदासः प्राह ॥

राजा चमत्कृत हुआ कहने लगा । हे सुकुमारि ! तेरेको लीलादेवीकी अनुमतीके साथ मैं अंगीकार करूंगा । ऐसे

धारानगरको लाकर तिसको राजा तैसेही अंगीकार करता भया। किसी समय राजाके स्नानके समयमें कामदेवशरसे पीडित मतवाले नेत्रोंवाली स्त्रीके हाथसे सुवर्णका कलशा पैडियोंकी पंक्तियोंपर शब्द करता हुआ पडता भया । फिर राजा सभामें आकर कालिदासको कहने लगा। हे सुकवे ! इस समस्याको पूर्ण करो । 'टटंटटंटंटटटंटटंटम्' तब कालिदास कहने लगा ॥

राजाभिषेके मदविह्वलाया।
हस्ताच्युतो हेमघटो युवत्याः ॥
सोपानमार्गेषु करोति शब्दं ।
टटंटटंटंटटटंटटंटम् ॥ ३१४ ॥

राजाभिषेकमें मदविह्वला जवान स्त्रीके हाथसे सुवर्णका कलशा पडा। वह कलश पैडीमार्गमें प्राप्त होकर शब्द करने लगा कि, टटंटटंटंटटटंटटंटम् ॥ ३१४ ॥

तदा राजा स्वाभिप्रायं ज्ञात्वाक्षरलक्षं ददौ । अन्यदा सिंहासनमलंकुर्वाणे श्रीभोजे कश्चिच्चोरः आरक्षकै राजनिकटं नीतः । राजा तं दृष्ट्वा कोयमित्यपृच्छत्। तदा आरक्षकाः प्राहुः । देव अनेन कुभिल्लकेन कस्मिंश्चिद्वेश्यागृहे घातपातमार्गेण द्रव्याणि अपहृतानीति । तदा राजा प्राह । अयं दंडनीय इति। ततो भुक्कुंडो नाम चोरः प्राह ॥

तब राजा अपने अभिप्रायको जानकर अक्षर २ प्रति लाख२रुपैये देता भया। एक समय राजा भोज सिंहासनपर

बैठा हुआ था, तब कोई चोर राजदूतोंने राजाके पास प्राप्त किया । राजा तिसको देखकर यह कौन है ऐसे पूंछता भया । तब राजदूत आकर कहने लगे कि, हे देव ! इस कुभिल्लकने किसी वेश्याके घरसे पाड लगाकर द्रव्य निकाल लिया । तब राजा कहने लगा । यह दंड देनेके योग्य है । फिर मुकुंड नाम चोर कहने लगा ॥

भट्टिर्नष्टो भारविश्चापि नष्टो ।
भिक्षुर्नष्टो भीमसेनोपि नष्टः ॥
भुक्कुंडोहं भूपतिस्त्वं हि राजन् ।
भभ्भापंक्तौ कालधर्मः प्रविष्टः ॥ ३१५ ॥

हे राजन् ! भट्टि, भारवि, भिक्षु, भीमसेन ये संपूर्ण तो नष्ट हो गये और मैं तो भुक्कुंड और तू भूपति ऐसे भभ्भापंक्तिमें कालधर्म प्रविष्ट हुआ है ॥ ३१५ ॥

तदा राजा प्राह । भो भुक्कुंड गच्छ गच्छ यथेच्छं विहर । कदाचिद्भोजो मृगयापर्याकुलः वने विचरन् विश्रमाविष्टहृदयः कंचित्तटाकमासाद्य स्थितवान् श्रमात्प्रसुप्तः । ततोपरपयोनिधिकुहरंगते भास्करे ॥

तब राजा कहने लगा । हे भुक्कुंड ! जावो जावो यथेच्छ विचरो । किसी समय भोजराजा शिकारके वश हुआ वनमें विचरता हुआ विश्रामको जब चित्त चाहा तब किसी सरोवरको प्राप्त होकर ठहरता भया और परिश्रमसे सोता भया । फिर जब सूर्य नारायण अस्तको प्राप्त हो गया ॥

तत्रैवारोचत निशा तस्य राज्ञः सुखप्रदा ॥
चंचच्चंद्रकरानंदसंदोहपरिकंदला ॥ ३१६ ॥

देदीप्यमान जो चंद्रमाकी किरण तिनकरके जो आनंद-समूह तिसकरके दीप्त और सुखको देनेवाली ऐसी रात्रि राजाको तिसी जगह रुचती भई ॥ ३१६ ॥

ततः प्रत्यूषसमये नगरीं प्रति प्रस्थितो राजा चरमगिरिनितंबलंबमानशशांकबिंबमवलोक्य सकुतूहलस्सभामागत्य तदा समीपस्थान् कवींद्रान्निरीक्ष्य समस्यामेकामवदत् ॥

फिर प्रभातसमय राजा नगरीको चल पडा, पश्चिमपर्वतरूप नितंबपर लंबमान चंद्रबिंबको देखकर आनंदसहित सभामें आकर और समीपमें स्थित कवीन्द्रोंको देखकर एक समस्याको कहता भया ॥

चरमगिरिनितंबे चंद्रबिंबं ललंबे ॥

पश्चिमपर्वतरूप नितंबपर चंद्रमाका बिंब लटकता भया ॥

तदा प्राह भवभूतिः ॥

तब भवभूति कहने लगा ॥

अरुणकिरणजालैरंतरिक्षे गतर्क्षे ।

सूर्यनारायणकी किरणजालोंकरके आकाशमें नक्षत्र दूर होत संते ॥

ततो दंडी प्राह ॥

फिर दंडी कहने लगा ॥

चलति शिशिरवाते मंदमंदं प्रभाते ॥
प्रभातसमय मंद मंद ठंढी पवन चलते हुए ॥

ततः कालिदासः प्राह ॥
फिर कालिदास कहने लगा ॥

युवतिजनकदंबे नाथ मुक्तोष्ठबिंबे ।
चरमगिरिनितंबे चंद्रबिंबं ललंबे ॥ ३१७ ॥

हे नाथ ! स्त्रीजनोंके समूहके पतियोंने ओष्ठबिंब त्यागे संते पश्चिमपर्वतरूप नितंबमें चंद्रबिंब लटकता भया॥ ३१७॥

ततो राजा सर्वानपि सम्मानितवान् । तत्र कालिदासं विशेषतः पूजितवान् । अथ कदाचिद्भोजो नगराद्बहिर्निर्गतः । नूतनेन तटाकांभसा बाल्यसाधितकपालशोधनादि चकार । तन्मूलेन कश्चन शफरशावः कपालं प्रविष्टो विकटकरोटिकानिकटघटितो विनिर्गतः । ततो राजा स्वपुरीमवाप । तदारभ्य राज्ञः कपाले वेदना जाता । ततस्तत्रत्यैर्भिषग्वरैः सम्यक्चिकित्सितापि न शांता । एवमहर्निशं नितरामस्वस्थे राज्ञि अमानुषविदितेन महारोगेण ॥

फिर राजा संपूर्ण कवियोंका सत्कार करता भया । तहां कालिदासको विशेषकरके पूजता भया । फिर किसी समय भोज नगरसे बाहर निकला । नवीन तालावके जलकरके बाल अवस्थामें किया हुआ कपालशोधन करता भया । तिस जलके साथ कोई मच्छी कपालमें बढ गई ऊपर कपालमें

चढ निकल गई । फिर राजा अपनी पुरीमें प्राप्त हो गया। उस दिनसे राजाके कपालमें पीडा हो गई । फिर तहांके वैद्यों-ने अच्छी तरह चिकित्साभी करी पीडा नहीं शांत हुई । ऐसे दिन रात जब राजा अस्वस्थ रहने लगा, वह महारोग मनु-ष्योंने नहीं जाना ॥

क्षामक्षाममभूद्वपुर्गतसुखं हेमंतकालेऽब्जव- ।
द्वक्रं निर्गतकांति राहुवदनाक्रांताब्जाबिंबोपमम् ॥
चेतः कार्यपदेषु तस्य विमुखं क्लीबस्य नारीष्विव ।
व्याधिः पूर्णतरो बभूव विपिने शुष्के शिखावानिव ॥

सुखरहित शरीर अतिकृश होता भया । जैसे हेमंतमें कमल कांतिरहित हो जाता है इसी प्रकार मुख कांतिरहित हो गया । जैसे राहुग्रस्त चंद्रबिंब । और कार्योंमें चित्त विमुख हो गया । नपुंसकका चित्त स्त्रियोंमें जैसे । और व्याधि पूर्णतर होता भया । जैसे सूखे वनमें अग्नि प्रबल हो जाता है ॥ ३१८ ॥

एवमतीते संवत्सरेपि काले न केनापि निवारि-तस्तद्रुदः । ततः श्रीभोजो नानाविधसमानौषधग्र-सनरोगदुःखितमनास्समीपस्थं शोकसागरनिमग्नं बुद्धिसागरं कथमपि संमताक्षरामुवाच वाचम् । बुद्धिसागर इतःपरमस्मद्विषये न कोपि भिषग्वरो वसतिमातनोतु । वाह्वटादिभेषजकोशान् निखिला-न् स्रोतसि निरस्यागच्छ, मम देवसमागमसमयः समागत इति । तच्छ्रुत्वा सर्वेपि पौरजनाः कवयश्च

अवरोधसमाजाश्च विगलदस्रासारनयना बभूवुः। ततः कदाचिद्देवसभायां पुरंदरः सकलमुनिवृंदमध्यस्थं वीणामुनिमाह। मुने इदानीं भूलोके का नाम वार्तेति। ततो नारदः प्राह। सुरनाथ किमप्याश्चर्यं किंतु धारानगरवासी श्रीभोजभूपालः रोगपीडितो नितरामस्वस्थो वर्तते। स तस्य रोगः केनापि न निवारितः। तदनेन भोजनृपालेन भिषग्वरा अपि स्वदेशान्निष्कासिताः। वैद्यशास्त्रमपि अनृतमिति निरस्तमिति। एतदाकर्ण्य पुरुहूतस्समीपस्थौ नासत्याविदमाह। भोः स्ववैद्यौ कथमनृतं धन्वंतरीयं शास्त्रम्। तदा तावाहतुरमरेश देव न व्यलीकमिदं शास्त्रं किं त्वमरविदितेन रोगेण बाध्यतेऽसौ भोज इति। इंद्रः कोसाववार्यरोगः किं भवतोर्विदितः। ततस्तावूचतुः। देव कपालशोधने कृते भोजेन तदा प्रविष्टः पाठीनः तन्मूलोयं रोग इति। तदा इंद्रः स्मयमानमुखः प्राह। तदिदानीमेव युवाभ्यां गंतव्यं न चेदितःपरं भूलोके भिषक्शास्त्रस्यासिद्धिर्भवेत्। न खलु सरस्वतीविलासस्य निकेतनं शास्त्राणामुद्धर्ता चेति। ततः सुरेंद्रादेशेन ता उभावपि धृतद्विजन्मवेषौ धारानगरं प्राप्य द्वारस्थं प्राहतुः। द्वारस्थ आवां भिषजो काशीदेशादागतौ श्रीभोजाय विज्ञापय तेनानृतमित्यंगीकृतं वैद्यशास्त्रमिति श्रुत्वा तत्प्रतिष्ठापनाय तद्रोगनिवारणाय चेति। ततो

द्वारस्थः प्राह । भो विप्रौ न कोपि भिषक्प्रवरः प्रवेष्टव्य इति राज्ञोक्तम् । राजा तु केवलमस्वस्थो नायमवसरो विज्ञापनस्येति । तस्मिन्क्षणे कार्यवशाद्बहिर्निर्गतो बुद्धिसागरस्तौ दृष्ट्वा कौ भवंतावित्यपृच्छत् । ततस्तौ यथागतमूचतुः । ततो बुद्धिसागरेण तौ राज्ञः समीपं नीत्वा ततो राजा ताववलोक्य मुखश्रिया अमानुषाविति बुद्ध्वा आभ्यां शक्यतेयं रोगो निवारितुमिति निश्चित्य तौ बहु मानितवान् । ततस्तावूचतुः । राजन्न भेतव्यं रोगो निर्गतः । किंतु कुत्रचिदेकांते त्वया भवितव्यमिति । ततो राज्ञापि तथा कृतम् । ततस्तावपि राजानं मोहचूर्णेन मोहयित्वा शिरःकपालमादाय तत्करोटिकापुटे स्थितं शफरकुलं गृहीत्वा कस्मिंश्चिद्भाजने निक्षिप्य संधानकरण्या कपालं यथावदारचय्य संजीविन्या च तं जीवयित्वा तस्मै तदर्शयताम् । तदा तद्दृष्ट्वा राजा विस्मितः किमेतदिति तौ पृष्टवान् । तदा तावूचतुः । राजन् त्वया बाल्यादारभ्य परिचितकपालशोधनतस्संप्राप्तमिति । ततो राजा तावश्विनौ मत्वा तच्छोधनार्थमपृच्छत् । किमस्माकं पथ्यमिति । ततस्तावूचतुः ॥

ऐसे वरस दिनका काल वदित होत संते सो रोग किसीसे निवारण नहीं हुआ । फिर अनेक प्रकारकी समान औषधप्रसनरोगसे दुःखित मनवाला श्रीभोजराजा शोकसागरमें डूबे हुए समीपमें स्थित बुद्धिसागरको कष्टसे सलाह-

वाली वाणी कहता भया। हे बुद्धिसागर! इससे उपरांत इस विषयमें कोई औषध नहीं जो रोगको दूर करे। वाह्वट आदि संपूर्ण औषध खजानेको जलमें डाल आवो, यह मेरा देवसमागम (मृत्युसमय) आ गया । ऐसे सुनकर संपूर्ण पुरवासी और कवि और रनिवास महारुदन करने लगे। फिर किसी समय देवसभामें इंद्र संपूर्ण मुनिगणमें स्थित वीणामुनिको अर्थात् नारदको कहने लगा। हे मुने! अब पृथ्वीलोकमें क्या वार्ता हो रही है। फिर नारद कहने लगा। हे सुरनाथ! और तो कुछ बात नहीं परंतु धारानगरवासी भोजराजा रोगसे पीडित और निरंतर अस्वस्थ हो रहा है। राजाका वह रोग किसीने निवारण नहीं कया। इसवास्ते इस भोजराजाने वैद्यवरभी अपने राज्यसे निकाल दिये। और वैद्यकशास्त्रभी झूंठा है यह विचार कर गेर दिया। यह सुनकर इंद्र समीपमें स्थित अश्विनीकुमारोंको कहने लगा, हे स्वर्गके वैद्यो ! वैद्यशास्त्र कैसे झूंठा है । तब वे कहने लगे। हे अमरेश! हे देव! यह शास्त्र झूंठा नहीं है परंतु यह भोज देवताओंके जाने हुए रोगसे पीडित है। निवारणके अयोग्य कौनसा यह रोग है और तुमने कैसे जाना है। फिर वे कहने लगे । हे देव! भोजने जब कपालशोधन किया तब मच्छी कपालमें बढ गई तिसका यह रोग है तब इंद्र हँसता हुआ कहने लगा। तो अबही तुमने जाना चाहिये, नहीं तो इससे अगाडी वैद्यशास्त्रकी असिद्धि

हो जावेगी। और राजा सरस्वतीविलासके स्थानोंको और शास्त्रोंको नष्ट कर देगा। फिर इंद्रकी आज्ञासे वे दोनों ब्राह्मणका रूप धारण कर धारानगरको प्राप्त हो द्वारपालको कहते भये कि, हे द्वारस्थ! हम वैद्य हैं और काशीदेशसे आये हैं, श्रीभोजको खबर करो, राजाने वैद्यशास्त्र झूठा मान लिया सो तिसके स्थापनके वास्ते और रोगनिवारण करनेके वास्ते हम आये हैं। फिर द्वारपाल कहने लगा। हे ब्राह्मणो! राजाने यह कह रक्खा है कि कोई वैद्यवर नहीं आने देना। राजा बीमार है और यह अरज करनेका अवसर नहीं है। उसी वक्त किसी कार्यके सबबसे बुद्धिसागर बाहर आ गया, तिनको देखकर पूंछने लगा कि तुम कौन हो? फिर वे यथार्थ कहते भये। फिर बुद्धिसागरने वे राजाके पास प्राप्त करे फिर राजा तिनको देखकर और मुखशोभासे ये मनुष्य नहीं ऐसे मानकर और इनकरके रोग निवारण होगा ऐसे मानकर तिनका बहुत सत्कार करता भया। फिर अश्विनीकुमार कहने लगे। हे राजन्! भय नहीं करना रोग चला गया। परंतु कहीं एकांतमें तुम चलो। फिर राजा एकांतमें हो गया। फिर वे राजाको मोहचूर्णसे मोहकर शिरका कपाल लेकर तिसकी करोटिके पुटमें स्थित जो मच्छीकुल तिसको ग्रहण करके किसी पात्रमें गेरकर संधानकरणीसे कपालको यथावत् स्थापन कर और संजीविनीविद्यासे जिवाय राजाको मच्छी दिखाते भये। फिर

समय राजा तिसको देखकर आश्चर्ययुक्त हुआ यह क्या है ऐसे तिनको पूंछता भया। तब वे कहने लगे। हे राजन्! तैंने बाल अवस्थासे लेकर जो कपालशोधन किया उससे यह रोग प्राप्त हुआ। फिर राजा तिनको अश्विनीकुमार मानकर तिनके शोधनके वास्ते पूंछता भया कि, हमारेको पथ्य क्या है। फिर वे कहने लगे कि॥

अशीतेनांभसा स्नानं पयःपानं वराः स्त्रियः॥
एतद्वो मानुषाः पथ्यमिति,

गरम जलसे स्नान, दूधका पीना, श्रेष्ठ स्त्री, हे मनुष्यो! यह तुम्हारा पथ्य है॥

तत्रांतरे राजा मध्ये 'मानुषा' इति संबोधनं श्रुत्वा वयं चेन्मानुषाः कौ युवामिति तयोर्हस्तौ झटिति स्वहस्ताभ्यां अग्रहीत्। ततस्तत्क्षण एव तावंतर्धत्तां ब्रुवंतावेव कालिदासेन पूरणीयं तुरीयचरणमिति। ततो राजा विस्मितः सर्वानाहूय तद्वृत्तमब्रवीत्। तच्छ्रुत्वा सर्वेपि चमत्कृताः विस्मिताश्च बभूवुः। तत्कालिदासेन तुरीयचरणं पूरितम्॥

इसके मध्यमें जो राजाने मानुष संबोधन सुना तब सुनकर जो हम मानुष हैं तो तुम कौन हैं ? ऐसे कह राजा अपने हाथोंसे उनका हाथ शीघ्र पकडते भये। फिर तिसी क्षणमें वे अंतर्धान हो गये, ऐसे कहते हुएही कि चौथे चरणको कालिदास पूर्ण करे। फिर राजा अचरज मानता हुआ संपूर्णोंको बुलाकर सो वृत्त कहता भया। यह बात

सुनकर संपूर्ण चमत्कृत होगये और आश्चर्ययुक्तभी होते भये वह चौथा चरण कालिदासने पूर्ण किया सो यह है कि ॥

स्निग्धमुष्णं च भोजनम् ॥ इति ॥ ३१९ ॥

और चिकना गरम भोजन पथ्य है ॥ ३१९ ॥

ततो भोजोऽपि कालिदासं लीलामानुषं मत्वा परं सम्मानितवान् । अथ भोजनृपालः प्रतिदिनं संजातकदलत्कांतिर्ववृधे धाराधीशः कृष्णेतरपक्षे चंद्र इव । ततः कदाचित्सिंहासनमलंकुर्वाणे श्रीभोजे कालिदासभवभूतिदंडिबाणमयूरवररुचिप्रभृतिकवितिलककुलालंकृतायां सभायां द्वारपाल एत्याह । देव कश्चित्कविर्द्वारि तिष्ठति । तेनेयं प्रेषिता गाथासनाथा चीटिका देवसभायां निक्षिप्यतामिति तां दर्शयति । राजा गृहीत्वा तां वाचयति ॥

फिर भोजराजाभी कालिदासको लीलामानुष मानकर अच्छा संमान करता भया । इसके अनंतर धाराधीश भोजराजा दिन २ प्रति शुक्लपक्षके चंद्रमाकी तरह बढता भया । फिर किसी समय भोजराजा सिंहासनपर बैठा था और कालिदास, भवभूति, दंडी, बाण, मयूर, वररुचि इन्होंसे आदि लेकर जो कवियोंमें तिलकरूप कवि वे सभामें बैठे थे, तब द्वारपाल आकर कहने लगा कि, हे देव ! कोई कवि द्वारपर खडा है, तिसने यह गाथासहित चिठी देकर कहा है कि । इसको राजाकी सभामें गेरकर दिखावो । राजा तिसको लेकर बांचने लगा ॥

काचिद्बाला रमणवसतिं प्रेषयंती करंडम् ।
दासीहस्तात्सभयमलिखद्व्यालमस्योपरिस्थम् ॥
गौरीकांतं पवनतनयं चंपकं चात्र भावं ।
पृच्छत्यार्यो निपुणतिलको मल्लिनाथः कवींद्रः३२०॥

कोई जवान स्त्री परदेशमें अपने स्वामीके पास दासीके हाथ पिटारी भेजती हुई । उसपर भयसहित यह लिखती भई कि पहले सर्प[1] लिखा, उसके ऊपर महादेवजी फिर हनूमानूजी फिर चंपा लिखी तो इसका अभिप्राय क्या है ? ऐसे श्रेष्ठ निपुणोंमें तिलक कवीन्द्र मल्लिनाथ पूंछता है ॥३२०॥

तच्छ्रुत्वा सर्वापि विद्वत्परिषच्चमत्कृता । तत कालिदासः प्राह । राजन्मल्लिनाथः शीघ्रमाकारयितव्य इति । ततो राजादेशात् द्वारपालेन स प्रवेशितकवी राजानं स्वस्तीत्युक्त्वा तदाज्ञयोपविष्टः । ततो राजा प्राह तं कवींद्रम् । विद्वन्मल्लिनाथकवे साधु रचिता गाथा । कालिदासः प्राह । किमुच्यते साध्विति । देशांतरगतकांतायाश्चारित्र्यवर्णनेन श्लाघनीयोऽसि विशिष्य तत्तद्भावप्रतिभटवर्णनेन । तदा भवभूतिः

---

१ सर्प आदि चार पदार्थ लिखनेका भाव क्रमसे यह है कि, पिटारीमें रखे पुष्पके गंधको पवन ले जावे इससे उसका भक्षक सर्प, मदन अपने बाण करनेके अर्थ लेवे इससे उसका शत्रु शिवजी, सूर्य अपने किरणोंसे सुखावे इससे जन्मकालमें भक्ष्यबुद्धिसे सूर्यके ऊपर दौडते हुए हनुमानजी और मधुको भौंहरा खा जावे इससे चंपाको लिखा । चंपापर भ्रमर नहीं जाता यह प्रसिद्धही है ।

प्राह। विशिष्यते इयं गाथा पंक्तिकंठोद्यानवैरिणो वातात्मजस्य वर्णनादिति। ततः प्रीतेन राज्ञा तस्मै दत्तं सुवर्णानां लक्षं पंच गजाश्च दश तुरगाश्च दत्ताः। ततः प्रीतो विद्वान् स्तौति राजानम्॥

तिसको सुनकर संपूर्ण विद्वानोंकी सभा चमत्कृत हो गई। फिर कालिदास कहने लगा। हे राजन्! मल्लिनाथको जल्दी बुलाना चाहिये। फिर राजाके हुकुमसे द्वारपालने कवि भीतर प्राप्त कर दिया। कवि राजाको 'स्वस्ति' ऐसे कहकर राजाके हुकुमसे बैठ गया। फिर राजा तिस कवीन्द्रको कहने लगा। हे विद्वन् मल्लिनाथ कवे! अच्छी गाथा रची। कालिदास कहने लगा। क्या श्रेष्ठ बताते हो। देशांतरगत कांतका चरित्र वर्णन करके और सो सो भाव वर्णन करके श्लाघायोग्यही है। भवभूति कहने लगा। यह गाथा हनूमान्जीके वर्णनसे विशेष है। फिर प्रसन्न हुए राजाने तिसको लाख मोहर, पांच हाथी, दश घोडा दिया। फिर प्रसन्न हुआ विद्वान् राजाकी स्तुति करने लगा॥

देव भोज तव दानजलौघैः।
सोऽयमद्य रजनीति विशंके॥
अन्यथा तदुदितेषु शिलागो-।
भूरुहेषु कथमीदृशदानम्॥ ३२१॥

हे राजन्! हे भोजदेव! तुम्हारे दानके जलोंके समूहोंकरके (यहां तुम्हारे घरपर) यह रात्री है ऐसी मैं शंका

१ पंक्तिकंठस्य रावणस्योद्यानमशोकवनं तस्य वैरिणः।

करता हूं नहीं तो तहां उत्पन्न हुई शिला गौ वृक्ष उन्होंमें ऐसा दान कैसे होवे अर्थात् दानके वास्ते सुवर्णशिला पडी हैं और अनेक गौ हैं । फिर तिस दानके जल पडनेसे वृक्ष जांम रहे हैं ये कारण होनेपर रात्रीही दीखती है। ऐसा दान क्या होवे यह शंका है ॥ ३२१ ॥

ततो लोकोत्तरं श्लोकं श्रुत्वा राजा पुनरपि तस्मै लक्षत्रयं ददौ। ततो लिखति स्म भांडारिको धर्मपत्रे॥

फिर लोकोत्तर (विचित्र) श्लोक सुनकर राजा फिरभी तिसको तीन लाख रुपैये देता भया। फिर भांडारिक धर्मपत्रमें लिखता भया ॥

प्रीतः श्रीभोजभूपस्सदसि विरहिणीगूढनमौक्तिपद्यं।
श्रुत्वा हेम्नांच लक्षं दश सच तुरगान् पंच नागानयच्छत्
पश्चात्तत्रैव सोयं वितरणगुणसद्वर्णनात् प्रीतचेता।
लक्षं लक्षं च लक्षं पुनरपि च ददौ मल्लिनाथाय तस्मै॥

प्रसन्न हुआ श्रीभोजराजा सभामें विरहिणीकी गूढ ठट्टाकी उक्तिका श्लोक सुनकर मल्लिनाथकविको लाख मोहर, दश घोडा, पांच हस्ती देता भया। फिर तिसी जगह भोजराजा दानके श्रेष्ठ गुण वर्णन करनेसे प्रसन्न चित्तवाला तीन लाख रुपैये तिस मल्लिनाथकविको फिर देता भया॥ ३२२॥

ततः कदाचिद्भोजराजः कालिदासं प्रति प्राह। सुकवे त्वमस्माकं चरमग्रंथं पठ। ततः क्रुद्धो राजानं विनिंद्य कालिदासः क्षणेन तं देशं त्यक्त्वा विलासव-

त्या सह एकशिलानगरं प्राप । ततः कालिदासवियोगेन शोकाकुलस्तं कालिदासं मृगयितुं राजा कापालिकवेषं धृत्वा क्रमेण एकशिलानगरं प्राप । ततः कालिदासो योगिनं दृष्ट्वा तं सामपूर्वं पप्रच्छ । योगिन् कुत्र तेऽस्ति स्थितिरिति । योगी वदति । सुकवे अस्माकं धारानगरे वसतिरिति । ततः कविराह । तत्र भोजः कुशली किम् । ततो योगी प्राह । किं मया च वक्तव्यमिति । ततः कविराह । तत्रातिशयवार्त्तास्ति चेत्सत्यं कथयेति । तदा योगी प्राह । भोजो दिवं गत इति । ततः कविर्भूमौ निपत्य प्रलपति । देव त्वां विनास्माकं क्षणमपि भूमौ न स्थितिः । अतस्त्वत्समीपमहमागच्छामि इति कालिदासः बहुशो विलप्य चरमश्लोकं कृतवान् ॥

फिर किसी समय भोजराजा कालिदासको कहने लगा। हे सुकवे ! तुम हमारे अंतसमयका ग्रंथ पढो । फिर कुपित कालिदास राजाकी निंदा करके और क्षणमात्रमें तिस देशको त्यागकर विलासवतीके साथ एकशिलानगरको प्राप्त होता भया । फिर कालिदासके वियोगकरके शोकाकुल राजा तिस कालिदासको ढूंढनेके वास्ते जोगीका रूप धारण करके क्रमसे एकशिलानगरको प्राप्त होता भया । फिर कालिदास योगीको देखकर तिसको साम उपायसे पूंछने लगा । हे योगिन् । तुम्हारी स्थिति कहां है ? योगी कहने

लगा । हे सुकवे ! हमारा रहना धारानगरमें है । फिर कवि कहने लगा । तहां भोजराजा प्रसन्न है । फिर योगी कहने लगा । मैं क्या कहूं । फिर कवि कहने लगा । तहांकी कोई अचरजकी वार्ता है तो सत्य कहो । तब योगी कहने लगा कि भोज स्वर्गको चला गया । फिर कवि पृथ्वीमें पडकर विलाप करने लगा कि, हे देव ! तुम्हारे विना हमारी क्षणमात्रभी पृथ्वीपर स्थिति नहीं । इसवास्ते मैंभी तुम्हारेही पास आऊं हूं ऐसे कालिदास बहुत विलाप करके अंतक श्लोक रचता भया ॥

अद्य धारा निराधारा निरालंबा सरस्वती ॥
पंडिताः खंडिताः सर्वे भोजराजे दिवं गते ॥३२३

आज भोजराजके स्वर्गमें जानेसे धारानगरी निराधार हो गई और विद्याभी निराश्रय हो गई और संपूर्ण पंडित खंडित हो गये ॥ ३२३ ॥

एवं यदा कविना चरमश्लोक उक्तस्तदैव स योगी भूतले विसंज्ञः पपात । ततः कालिदासस्तथाविधं तमवलोक्य अयं भोज एवेति निश्चित्य अहह महाराज तत्रभवताहं वंचितोस्मीत्यभिधाय झटिति तं श्लोकं प्रकारांतरेण पपाठ ॥

ऐसे जब कविने अंतका श्लोक पढा तब योगी बेचेत होकर पृथ्वीपर पडता भया । फिर कालिदास तिसको तैसे देखकर और वह भोजही है ऐसे निश्चय करके कहने लगा, अहह !

बडा खेद है महाराज तुमने मैं आदिमें ठग लिया, ऐसे जल्दी कहकर तिसी श्लोकको कालिदास और प्रकारसे पढता भया ॥

अद्य धारा सदाधारा सदालंबा सरस्वती ॥
पंडिता मंडिताः सर्वे भोजराजे भुवं गते ॥ ३२४ ॥

आज धारानगरी श्रेष्ठ आधारवाली हो गई । और सरस्वती श्रेष्ठ आलंबवाली हो गई । और संपूर्ण पंडित मंडित हो गये । यह सब बात भोजराजा पृथ्वीपर आनेसे होती भई ॥ ३२४ ॥

ततो भोजस्तमालिंग्य प्रणम्य धारानगरं प्रति ययौ ॥

फिर भोज, कालिदाससे मिलकर नमस्कार करके धारानगरीको आता भया ॥

शैले शैलविनिश्चलं च हृदयं मुंजस्य तस्मिन्क्षणे ।
भोजे जीवति हर्षसंचयसुधाधारांबुधौ मज्जति ॥
स्त्रीभिः शीलवतीभिरेव सहसा कर्तुं तपस्सत्वरे ।
मुंजे मुंचति राज्यभारमभजत्त्यागैश्च भोगैर्नृपः॥ ३२५

इति श्रीबल्लालपण्डितविरचितः श्रीमन्महाराजाधिराजस्य धारानगराधीश्वरस्य भोजराजस्य प्रबंधः समाप्तिमफाणीत् ।

मुंजने जो भोज मरवाय दिया था, फिर जब भोज जी गया था तब मुंजराजा (भोजका चाचा) आनंदसमूहरूप अमृतधाराके समुद्रमें डूब गया । फिर वह मुंज पर्वतसरीखा दृढहृदय करके शीलवती अपनी स्त्रियोंके साथ शीघ्रही तप करनेको

वनमें चला गया । जब मुंज राज्यभारको छोड गया, तब भोजराजा दान भोगोंकरके राज्यको सेवन करता भया ॥ ३२५

इति श्रीबेरीनगरनिवासिबुध-वसतिरामविरचितभाषा-टीकायुतो भोजप्रबंधः समाप्तः ।

यह भोजप्रबंधकी भाषाटीका जिले-रोहतक, कसबेबेरी-निवासी पंडित वस्तीरामने बनाई है । इसका सब प्रकारका हक्क श्रीयुत श्रीकृष्णदासात्मज गंगाविष्णुजी सेठको दे दिया है ।

नेत्रबाणाङ्कभूम्यब्दे वैशाखस्यासिते दले ॥
त्रयोदश्यां हिमकरे वारे चेयं समापिता ॥ १ ॥

सं० १९५२ वै० व० १३ सोमवार ।

भाषाटीकासहितो
भोजप्रबन्धः
समाप्तः ।

पुस्तक मिलनेका ठिकाना-
गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
"लक्ष्मीवेंकटेश्वर" छापाखाना,
कल्याण-मुंबई.